CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स. ४७२
२४०६

ग्रन्थराज श्री पंचाध्यायी

4.5
SHP

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लौटानेकी
तिथि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४०५
सं. ४१५

॥ सद्गुरुदेवाय नमः

अनुमानित श्रीअमृतचन्द्र आचार्यदेवकृत

ग्रन्थराज श्री पंचाध्यायी

अध्यात्मचन्द्रिका टीका सहित

सम्यग्दर्शन का निरूपण

(सूत्र ११४३ से १५८८ तक ४४६)

मङ्गलाचरण

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥१॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥२॥

परमपुरुष निज अर्थ को साध भये गुणवृन्द ।
आनन्दामृतचन्द्र को, वन्दत हूं सुखकन्द ॥३॥

इस महा अधिकार में निम्न विषयों का स्पष्टीकरण किया है:—

१—शुद्ध सम्यक्त्व का निरूपण सूत्र ११४३ से ११५३ (खास) = ११
२—सम्यक्त्व का लक्षण "स्वात्मानुभूति" सूत्र ११५५ से ११७७ = २३
३—सम्यक्त्व का लक्षण 'श्रद्धा-रुचि-प्रतीति-चरण' सूत्र ११७८ से ११९१ = १४
४—सम्यक्त्व का लक्षण 'प्रशम, संवेग (निर्वेद), अनुकम्पा, आस्तिक्य सूत्र ११९२ से १२३४ = ४३
सम्यक्त्व का उपलक्षण, भक्ति, वात्सल्यता, गर्हा, निन्दा, सूत्र १२३६ से १२४४ = ९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५—निशङ्कित अंग का स्वरूप सूत्र १२४६ से १३१४=२६

(क) सम्यग्दर्शन में इह लोक भय नहीं है सूत्र १२७४ से १२८३=१०

(ख) सम्यग्दर्शन में परलोक भय नहीं है सूत्र १२८४ से १२९१= ८

(ग) सम्यग्दर्शन में वेदना भय नहीं है सूत्र १२९२ से १२९८= ७

(घ) सम्यग्दर्शन में अरक्षा भय नहीं है सूत्र १२९९ से १३०३= ५

(च) सम्यग्दर्शन में अगुप्ति भय नहीं है सूत्र १३०४ से १३०६= ३

(छ) सम्यग्दर्शन में मरण भय नहीं है सूत्र १३०७ से १३१०= ४

(ज) सम्यग्दर्शन में अकस्मात् भय नहीं है सूत्र १३११ से १३१४= ४

६—निःकांक्षित अंग का स्वरूप सूत्र १३१५ से १३४४=३०

७—निर्विचिकित्सा अंग का स्वरूप सूत्र १३४५ से १३५५=११

८—अमूढ़दृष्टि अंग का स्वरूप सूत्र १३५६ से १५४२=१८७

(क) तत्त्व अमूढ़ता सूत्र १३५७ से १३६०= ४

(ख) लोक मूढ़ता सूत्र १३६१ से १३६२= २

(ग) देव मूढ़ता सूत्र १३६३ से १३६७= ५

(घ) धर्म मूढ़ता सूत्र १३६८ = १

(च) गुरु मूढ़ता सूत्र १३६९–१३७० = २

(छ) देव (अरहन्त सिद्ध) का स्वरूप सूत्र १३७१ से १३८७=१७

(ज) गुरु का सामान्य स्वरूप सूत्र १३८८ से १४१२=२५

(झ) आचार्य गुरु का स्वरूप सूत्र १४१३ से १४२६=१४

(त) उपाध्याय गुरु का स्वरूप सूत्र १४२७ से १४३४= ८

(थ) साधु गुरु का स्वरूप सूत्र १४३५ से १४४२= ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(द) गुरुओं में परस्पर विशेषता	सूत्र १४४३ से १४८२=४०
(ध) धर्म का सामान्य स्वरूप	सूत्र १४८३ से १४९०= ८
(न) गृहस्थ धर्म का स्वरूप	सूत्र १४९१ से १५१०=२०
(प) मुनि धर्म का स्वरूप	सूत्र १५११ से १५१३= ३
(फ) निश्चय धर्म का स्वरूप	सूत्र १५१५ से १५४०=२६
९—उपबृंहण अंग का स्वरूप	सूत्र १५४३ से १५५४=१२
१०—स्थितिकरण अंग का स्वरूप	सूत्र १५५५ से १५७०=१६
११—वात्सल्य अंग का स्वरूप	सूत्र १५७१ से १५७६= ६.
१२—प्रभावना अंग का स्वरूप	सूत्र १५७७ से १५८५= ९
उपसंहार (खास चीज है)	सूत्र १५८६ से १५८८= ३

विषय अनुसंधान---पहली तीन पुस्तकों में सामान्य वस्तु का निरूपण किया। चौथी पुस्तक में विशेष वस्तु का निरूपण किया। विशेष वस्तु में भी जीव वस्तु का पर्याय दृष्टि से निरूपण प्रारम्भ किया। उसमें बतलाया कि सम्पूर्ण जगत् के जीव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं। अतः उन दोनों का निरूपण करने से जीव तत्त्व का निरूपण हो जाता है। जिसमें कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का कर्ता भोक्ता तो सारा जगत् प्रत्यक्ष मिथ्यादृष्टि है ही उसको क्या दिखलायें। उसका तो सबको प्रत्यक्ष अनुभव है ही। सम्यग्दृष्टि का निरूपण करते आ रहे हैं। सम्यग्दृष्टि कैसा होता है यह चौथी पुस्तक में बतलाया। वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतना का धारी होता है। सामान्य का वेदन करने वाला होता है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना का ज्ञाता द्रष्टा होता है। इन्द्रिय सुख, इन्द्रिय ज्ञान, कर्म तथा फल से विरक्त होता है और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुख का अभिलाषी होता है। पर से अत्यन्त उदासीन, स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान और वैराग्य शक्ति का धारक होता है। अब उस सम्यग्दृष्टि में इतनी विलक्षणता उत्पन्न करने वाला जो सम्यग्दर्शन है उसका निरूपण इस सारी पाँचवीं पुस्तक में करेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह विवेचन विशेष वस्तु विवेचन के अन्तर्गत ही है और जीव तत्त्व के निरूपण में ही गर्भित है सो जानना। सबसे पहले परम पूज्य जो श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन रूप सूक्ष्म पर्याय है उसका सीधा "आत्मभूत" लक्षण सूत्र ११४३ से ११५४ तक निरूपण किया है और फिर सूत्र ११५५ से पुस्तक के अन्त तक सम्यग्दर्शन का "अनात्मभूत" लक्षण निरूपण किया गया है सो जानना।

पहला अवान्तर अधिकार

शुद्ध सम्यक्त्व का निरूपण सूत्र ११४३ से ११५३ तक ११ खास

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।*
गोचरं स्वावधिस्वान्तः पर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥११४३॥

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥११४४॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व वस्तुपने से सूक्ष्म है। वह केवलज्ञान का विषय है अथवा अपने अवधि (परम+सर्व) और अपने मनःपर्यय इन दो ज्ञानों का भी विषय है किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनों का तो बिलकुल विषय नहीं है। देश अवधि का भी विषय नहीं है क्योंकि इन तीन ज्ञानों में सम्यक्त्व की अनुपलब्धि है अर्थात् उस पर्याय का सीधा जाननपना नहीं है।

---

* केवल ज्ञान के गोचर तो तीनों सम्यक्त्व हैं ही। परम, सर्व अवधि और मनःपर्यय, दो सम्यक्त्व को तो सीधा जानते ही हैं क्योंकि वे निश्चय से पुद्गल पर्याय कही जाती हैं। क्षायिक सम्यक्त्व को भी ये ज्ञान सीधे जानते हैं या नहीं इसके बारे में जैसी आगम की आज्ञा हो वैसा श्रद्धान करना। उपर्युक्त सूत्र तो सामान्य रूप रचा गया है क्योंकि द्रव्यानुयोग में सामान्य कथन ही होता है। भेद प्रभेदों का कथन करना सिद्धान्त का कार्य है। सिद्धान्त शास्त्र के हम मास्टर नहीं हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—जिस प्रकार आत्मा में ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्य आदि अनन्त गुण हैं। उसी प्रकार एक सम्यक्त्व गुण भी है। जिसप्रकार ज्ञान गुण की आठ पर्यायें होती हैं, दर्शन गुण की चार पर्यायें होती हैं, चारित्र गुण की सात पर्यायें होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण की छः पर्यायें होती हैं, (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) औपशमिकसम्यग्-दर्शन (५) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन (६) क्षायिक सम्यग्दर्शन। ये छः पर्यायें तो आगम अर्थात् सिद्धान्त शास्त्रानुसार हैं। अध्यात्म में तो एक विभाव (विपरीत) पर्याय मिथ्यादर्शन और एक स्वभाव (सीधी) पर्याय सम्यग्दर्शन कही जाती है। यहाँ उस सम्यग्दर्शन रूप सीधी पर्याय का निरूपण है। सम्यक्त्व गुण को श्रद्धा गुण भी कहते हैं। यहाँ गुण की चर्चा नहीं है। गुण तो भव्य अभव्य, मिथ्यादृष्टि,सम्यग्दृष्टि सभी में समान रूप से पाया जाता है। यहाँ तो जिसका सम्यक्त्व गुण अनादिकालीन मिथ्यात्व पर्याय से बदलकर सम्यक्त्व रूप पर्याय में आ गया है। सीधी उस पर्याय की चर्चा है क्योंकि भोग गुण का नहीं होता पर्याय का होता है। मोक्षमार्ग गुण रूप नहीं है किन्तु पर्याय रूप है। यह दूसरी बात है कि मोक्षमार्ग प्रगट गुण के आश्रय से होता है किन्तु है वह पर्याय रूप। अब वह जो श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व से बदल कर सम्यक्त्व रूप पर्याय हुवी है वह पर्याय सीधी किस ज्ञान का विषय है। उस की यहाँ चर्चा प्रारम्भ की है और सूत्र ११५३ तक उसी की चर्चा है। उस पर्याय का नाम हम ने शीर्षक में शुद्ध सम्यक्त्व दिया है अर्थात् सम्यक्त्व गुण की सीधी पर्याय का वर्णन है। वह पर्याय सीधी तो केवल ज्ञान, परमावधि, सर्वावधि और मनः पर्यय इन ज्ञानों द्वारा जानी जाती है क्योंकि वह इन्हीं का ज्ञेय है। देशावधि, मति तथा श्रुत द्वारा वह पर्याय सीधी बिलकुल नहीं जानी जाती क्योंकि वह इन ज्ञानों का विषय (ज्ञेय) नहीं है। यह पढ़ते ही तुरन्त आप को यह शंका होगी कि क्या अपने सम्यक्त्व का अपने को भी पता नहीं होता। होना तो ऐसा चाहिये कि दूसरे के भी सम्यक्त्व का पता चल जाय पर अपना सम्यक्त्व तो अपने को पता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चलना ही चाहिये अन्यथा जीव कैसे निःशल्य होगा तथा कैसे वह व्रतों को धारण कर श्रावक या मुनि बनेगा ? इसका उत्तर यह है कि पता तो चलता है पर स्वानुभूति से पता चलता है जो मति श्रुत ज्ञान की सम्यग्-ज्ञान रूप पर्याय है। यहाँ अखण्ड आत्मा का निरूपण नहीं है किन्तु गुण भेद करके उनमें से केवल शुद्ध सम्यक्त्व गुण की चर्चा है। उस गुण की सीधी पर्याय तो वास्तव में केवल, परमावधि, सर्वावधि और मनः पर्यय ज्ञान का ही सीधा ज्ञेय है। शेष तीन ज्ञानों का नहीं है। पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है और वह स्वात्मानुभूति रूप तुरन्त अनुभव में प्रत्यक्ष आता है और उसके द्वारा जीव अतीन्द्रिय सुख का वेदन करता है, पहले सूत्र ११५३ तक सम्यक्त्व की सीधी पर्याय क्या है और उसका क्या स्वरूप है इसकी चर्चा करेंगे फिर सूत्र ११५४ से पुस्तक के अन्त तक सम्यक्त्व के अविनाभावी दूसरे लक्षणों की चर्चा करेंगे जो सीधी सम्यक्त्व गुण की पर्यायें तो नहीं हैं। हैं तो ज्ञान या चारित्रादि गुण की पर्यायें पर सम्यग्दर्शन से अविनाभावी प्रकट होती हैं, उनके द्वारा सम्यक्त्व का निश्चय कर लिया जाता है। यह बात पहले सूत्र नं० ११४१ में स्पष्ट कह कर आये हैं कि सम्यग्दर्शन के अविनाभावी लक्षणों से सम्यक्त्व का निश्चय हो जाता है तथा पहले नं० ७०६ में यह कह कर आये हैं कि "इस मति श्रुत ज्ञान में भी इतनी विशेषता है कि जिस समय इन ज्ञानों द्वारा स्वात्मानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा को प्रत्यक्ष करते हैं इस लिये ये दोनों ज्ञान भी स्वात्मानुभूति के समय में प्रत्यक्ष रूप है पर परोक्ष नहीं है। परोक्ष तो ये पर के जानने में होते हैं" देखिये नं० ७०६,७०७, ७०६, ७१०। तथा आगे भी नं० १२२८, १२२६ में शंका उठाकर नं० १२३० में समाधान में सिद्ध किया है "मतिश्रुत ज्ञान स्वानुभव काल में प्रत्यक्ष हैं।" पहले नं० ६४५ से ६५३ तक ६ सूत्रों में भी सिद्ध किया है कि नयातीत पुरुष स्वात्मानुभूति वाला ही सम्यग्दृष्टि है। इसलिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मति श्रुत ज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन अपने अविनाभावी लक्षणों द्वारा जाना जा सकता है और केवलज्ञानादि में सीधी पर्याय जानी जाती है। यह तो ठीक है कि सम्यग्दर्शन यह आत्मा की श्रद्धा गुण की सूक्ष्म पर्याय है फिर भी सम्यग्ज्ञानी यह निर्णय कर सकता है कि मुझे सुमति और सुश्रुत ज्ञान हो गया है और मुझे इनका अविनाभावी सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार मतिश्रुत ज्ञान में भी सम्यदर्शन का बराबर निर्णय हो सकता है। यह स्याद्वाद आगम है। बहुत होशियारी से समझने की बात है। विषय क्या चल रहा है। गुण भेद से निरूपण है या अखण्ड आत्मा का। यहाँ सम्यग्दृष्टिकी अखण्ड आत्माका निरूपण नहीं है किन्तु गुणभेद करके केवल श्रद्धा गुण की चर्चा है यहीइस में रहस्य या चोज की बात है।

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥११४५॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व आत्मा का कोई गुण है और वह निर्विकल्पक है। वह अनादि से दर्शनमोह के उदय से मिथ्या स्वादरूप है।

भावार्थ—विकल्प शब्द का एक राग अर्थ है, एक भेद अर्थ है, एक ज्ञेयाकार अर्थ है। यहाँ विकल्प शब्द का ज्ञेयाकार अर्थ इष्ट है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण हैं। उनमें ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसकी पर्याय स्वपर को जानती है अर्थात् ज्ञेयाकार रूप परिणमन करती है। ज्ञेयाकार को सविकल्पक कहते हैं। सो आत्मा का ज्ञान गुण—गुण में तो निर्विकल्पक है किन्तु पर्याय में सविकल्पक है। गुण तो सभी निर्विकल्पक होते हैं किन्तु अन्य गुणों की पर्याय भी निर्विकल्पक है। जो ज्ञेयाकार रूप न परिणमे वह निर्विकल्पक है। सो आचार्य कहते हैं कि आत्मा का सम्यक्त्वगुण—गुण में तो निर्विकल्पक है ही किन्तु पर्याय में भी निर्विकल्पक है। निर्विकल्पक होने से वह केवल अनुभव गम्य रह जाता है किन्तु उसका कुछ आकार बताया नहीं जा सकता। जब वह गुण है तो उसकी पर्याय भी चाहिए और उस पर्याय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की कुछ रूपरेखा अर्थात् स्वाद-अनुभव-वेदन भी चाहिये तो आचार्य कहते हैं कि उसके वेदन का स्वभाव जो कुछ भी है वह अनादिसे जीवको नहीं आया है किन्तु उसका विपरीत स्वाद आरहा है अर्थात् मिथ्यादर्शनरूप स्वाद आरहा है। क्योंकि विपरीत स्वाद विभाव पर्याय है और यह पहले बता चुके हैं कि विभाव निमित्त में जुड़ने से होता है तो कहते हैं कि एक दर्शन मोह नाम का कर्म उसके विपरीत परिणमन में निमित्त है। वह गुण भी अनादि का स्वतः सिद्ध है। वह कर्म भी अनादि का स्वतः सिद्ध है। उनका निमित्त नैमित्तिक संबंध भी अनादि का स्वतः सिद्ध है। अतः उस गुण का विपरीत परिणमन भी अनादि से हो रहा है और जीव को मिथ्या श्रद्धारूप से उसका स्वाद आ रहा है। अब विचारना यह है कि वह विपरीत पर्याय पलट कर सम्यग्दर्शन रूप कैसे अनुभव में आवे तो उसके कारण का निर्देश दो प्रकार से होता है एक अध्यात्म भाषा से—एक आगम भाषा से। अध्यात्म भाषा से तो उसकी प्राप्ति का उपाय भेद विज्ञान द्वारा अपने सामान्य स्वभाव को जानकर उसका आश्रय करना है जो पहले सूत्र ९५७ में निरूपण कर आये हैं तथा श्री समयसार गा० १३ में निरूपित है। आगम भाषा से उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है यह अब दिखाते हैं। अध्यात्म का उपाय उपादान ही मुख्यता से है। आगम का उपाय निमित्त की मुख्यता से है। समय दोनों का एक है। जीव तो केवल उपादान का पुरुषार्थ करता है। ये बातें जो अब कहेंगे स्वतः वस्तु स्वभाव के अनुसार अपने आप आ मिलती हैं। कुछ इन्हें बुद्धिपूर्वक नहीं मिलाना पड़ता। बुद्धिपूर्वक तो केवल भेदविज्ञान का पुरुषार्थ करके सामान्य का आश्रय किया जाता है। अब आगम भाषा से सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं। यह उपाय केवल ज्ञान गम्य है ऐसा पं० टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक में स्पष्ट लिखा है।

आगम भाषा से सम्यक्त्व की प्राप्ति का उपाय

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥११४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—दैवयोग से, काल-आदि लब्धियों की प्राप्ति होने पर; संसार सागर के निकट आने पर, अथवा भव्य भाव के विपाक से, जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

भावार्थ—(१) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति किस प्रकार होती है उस का कथन दो प्रकार से करने में आता है; अध्यात्म भाषा द्वारा तथा आगम भाषा द्वारा। अध्यात्म भाषा द्वारा उस का कथन पहले सूत्र ६५७ में आ गया है वहाँ कहा है कि "नवतत्त्वों का भूतार्थनय द्वारा आश्रय करते सम्यग्दर्शन प्रगटता है।" जब सम्यग्दर्शन प्रगटता है उस समय आत्मा की अपनी दशा कैसी होती है यह; और कर्म की अवस्था कैसी होती है यह; इस सूत्र में दर्शाने में आया है। यहाँ उपादान और निमित्त दोनों कारण जनाने में आये हैं। इसमें कही हुवी लब्धियाँ केवल-ज्ञान गम्य हैं।

(२) श्रीपंचास्तिकाय की गाथा १५०—१५१ की संस्कृत टीका में श्रीजयसेन आचार्य ने कहा है कि—जब जीव, आगम भाषा से कालादिलब्धिरूप तथा अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदन ज्ञान पाता है उस समय पहले मिथ्यात्वादि प्रकृति का स्वयं उपशम होकर सम्यग्दृष्टि होता है।

(३) श्रीनियमसार की गाथा ४१ की संस्कृत टीका में "काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता–ऐसी पाँचलब्धि" ये शब्द डाले हैं उस का हिन्दी अर्थ ब्र० शीतलप्रसाद जी ने इस प्रकार किया है "काल लब्धि को क्षयोपशम लब्धि भी कहते हैं, दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देशनालब्धि, चौथी प्रायोग्यलब्धि और पाँचवीं करण लब्धि" इसप्रकार पाँच लब्धि वहाँ कही हैं।

(४) श्रीमोक्षपाहुड़ की गा. २४ के पीछे के आधे भाग में कहा है कि "कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति"। उस का अर्थ वहाँ इस प्रकार किया है "कालादिलब्धि जो द्रव्यक्षेत्र-काल-भाव रूप सामग्री की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ति उस द्वारा यह आत्मा कि जो कर्मसंयोग में स्वयं अशुद्ध है वही परमात्मा होता है।

(५) श्रीसमयसार गाथा ७१ की श्री जयसेन टीका में धर्मप्राप्ति के अवसर को धर्मकाललब्धि कहते हैं। इसलिये आत्मा की अपनी काल लब्धि शब्द का अर्थ आत्मा की अपनी उस समय की पर्याय की प्राप्ति अर्थात् "स्वकाललब्धि" होता है।

(६) श्रीगोमटसार जीवकाण्ड गाथा ६५०—६५१ में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ कहीं हैं। उस में आत्मा के उपादान कारण और उसके साथ रहने वाले निमित्त भी आ जाते हैं। क्षयोपशम लब्धि में क्षयोपशम भाव वह उपादान और उस के योग्य कर्म का क्षयोपशम वह निमित्त, विशुद्धता में उपादान कारण संक्लेश की हानि तथा विशुद्धि की वृद्धि है और निमित्त कारण अशुभ कर्म का अनुभाग घटना वह है। देशना लब्धि में--उपदेशित नौ पदार्थों आदि की धारणा की प्राप्ति होना वह उपादान कारण है और वहाँ निमित्त कारण नौ पदार्थों का उपदेश करने वाला आचार्यादिक का लाभ है। प्रायोग्य लब्धि में उपादान कारण—कर्म की स्थिति अन्तः कोटाकोटी काल मात्र रहने योग्य आत्मा के परिणामों की प्राप्ति है तथा निमित्त कारण द्रव्य कर्म की उस प्रकार की स्थिति होनी वह है। अन्तिम करण लब्धि में उपादान कारण आत्मा में सम्यक्त्व प्राप्ति योग्य परिणामों की विशुद्धि होनी वह तथा निमित्त कारण द्रव्य कर्मों की उस समय की वैसी योग्यता होनी वह। यह सब लब्धि का विषय केवल ज्ञान गम्य है। उस को मति श्रुत ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जाना नहीं जा सकता। उपादान और निमित्त दोनों आगम में बताने में आते हैं उसका कारण यह है कि "कि जगत में इस कथन के विरुद्ध अनेक अभिप्राय चलते हैं वे यथार्थ नहीं हैं ऐसा ज्ञान होने के साथ साथ सच्चे उपादान और निमित्तों का सच्चा ज्ञान शिष्य को हो जाता है कारण कि उपादान-निमित्त कारण के ज्ञान में जो विपरीतता हो तो सम्यग्दर्शन होता नहीं।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) "दैवात्" शब्द इस सूत्र के अतिरिक्त अन्य कई सूत्रों में भी प्रयोग किया है। उसका आशय यह है कि—आत्मा की उस समय की द्रव्य क्षेत्र-काल भाव रूप योग्यता और निमित्तपने द्रव्य कर्म की भी उस समय द्रव्यक्षेत्र-काल-भाव रूप योग्यता समझनी। श्रीइष्टोपदेश के सूत्र २ में यह नियम दर्शाया है कि आत्मा की जिस समय जैसी योग्यता होती है उसका आरोप कर्म ऊपर उस समय आता है। उपादान और निमित्त इन दोनों कारणों को जनाने के लिये यह शब्द डाला जाता है पर "कर्म कुछ भी जीव को लाभ हानि करता है" यह बताने के लिये यह शब्द डालने में नहीं आया है कारण कि एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है। अज्ञानी आत्मा प्रकृति के स्वभाव को छोड़ता नहीं, भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्म प्रकृति के उदय को अपना समझ कर वह परिणमता है, इस प्रकार अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) प्रकृतिस्वभाव में लीन (रक्त) होकर उसके फल का भोगता होता है इतना बताने के लिये अज्ञानी सम्बन्धी "दैवात्" शब्द डाला जाता है, तथा भेद ज्ञान के बल से ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा कर्म में लीन होता नहीं है उस समय कर्म की अवस्था कैसी होती है यह बताने के लिये ज्ञानी सम्बन्धी भी "दैवात्" शब्द डाला जाता है। तथा

(८) संज्ञीपना प्राप्त करने के बाद ऐसे भाव जीव किसी वक्त ही करता है ऐसी दुर्लभता और अपूर्वता दर्शाने के लिये भी यह शब्द यहाँ डाला है।

(९) 'भव्यभावविपाकात्' भव्यत्व भाव की पर्याय अशुद्ध थी। उसको टालकर अपने पुरुषार्थ से जीव शुद्ध पर्याय प्रगट करता है वह ही भव्यत्व भाव का विपाक होता है ऐसा यहाँ बताया है।

(१०) 'भवार्णवे प्रत्यासन्ने' ऊपर प्रमाण पुरुषार्थ करके जीव अपने में शुद्ध पर्याय प्रगट करता है तब संसार सागर को पार पाने योग्य वह जीव हो जाता है और वह आसन्न भव्य भी कहलाता है, पर विकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टालने के लिये जीव पुरुषार्थ करे नहीं तो पाँचों लब्धियाँ, भवार्णव के अंत की निकटता कि भव्यभाव विपाकता को वह पासकता नहीं ऐसा समझना।

(११) श्रीशीलपाहुड़ की ३७वीं गाथा में कहा है कि—ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता वीर्य (पुरुषार्थ) के आधीन है। पहली चार लब्धियाँ तो भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पा सकते हैं पर पाँचवीं करण लब्धि तो योग्य पुरुषार्थ द्वारा भव्य संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव ही पा सकते हैं।

(१२) ये पाँचों लब्धियाँ क्षायोपशमिक भाव रूप हैं और उपशम सम्यक्त्व औपशमिक भाव है। इसलिये पाँचों लब्धियाँ उपशम सम्यक्त्व को निमित्त हैं। इसका अर्थ यह है कि जब जीव उपादान में सम्यक्त्व प्राप्त करता है तो शेष गुणों की अपने कारण से ऐसी अवस्था होती है।

(१३) पूर्व सूत्र ९५७ में दर्शाये अनुसार नौ तत्त्वों में रहने वाला एक सामान्य चैतन्य स्वरूप आत्मा कि जो भूतार्थ नय का विषय है उसका आश्रयभाव वह उपादान कारण है और वह साधक जीव के ज्ञान गम्य है। इसलिये भूतार्थनय के आश्रय करने का पुरुषार्थ करना वह साधक का कर्तव्य है।

(१४) जिस काल में कार्य होता है उस काल को भी काललब्धि कहने में आता है और वह काल, आत्मा की स्वकाल लब्धि का निमित्त मात्र है तथा आत्मसन्मुख परिणाम होते समय कर्म की स्थिति स्वयं घट जानी वह कर्म की काल लब्धि है और उसको आत्म सन्मुख परिणाम निमित्त मात्र है।

(१५) देशना लब्धि यह बताती है कि—मिथ्यादृष्टि का उपदेश कि शास्त्र वाचन जीव को प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये निमित्त-पने की योग्यता भी धरावता नहीं है इसलिये वैसे संयोगवाले जीव उस समय सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता वाले नहीं हैं। और जिन जीवों को निसर्गज सम्यग्दर्शन होता है उनको पूर्व की देशना लब्धि का संस्कार वर्तमान में निमित्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१६) श्री समयसार गाथा २७६—२७७ की श्री जयसेन आचार्यकृत टीका पृष्ठ ३७० में कहा है कि "जो तादृश (जैसी है वैसी) आत्मा को उपादेयरूप श्रद्धान करता है उसके सात प्रकृतियों का उपशमादिक है तथा वह भव्य है पर जिसके निज शुद्ध आत्मा उपादेय रूप नहीं है उसके सात प्रकृतियों का उपशमादिक नहीं है ऐसा समझना।"

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥११४७॥

सूत्रार्थ—और गुणश्रेणी को अतिक्रम न करके (अर्थात् गुणश्रेणी निर्जरा के अनुसार) केवल अन्तर्मुहूर्त में प्रयत्न के बिना ही दर्शनमोह का उपशम होता है (परद्रव्य की पर्याय में जीव का पुरुषार्थ नहीं हुआ करता। वह स्वयं अपनी योग्यता से होती है)।

भावार्थ—पहले सूत्र ९५७ में बतलाये हुए मार्गानुसार जब जीव भेदविज्ञान करके अपने सामान्य के आश्रय करने का पुरुषार्थ करता है तो दर्शनमोह कर्म जो सत्ता में पड़ा है उसकी सिद्धान्तानुसार गुणश्रेणी निर्जरा होते होते अन्तर्मुहूर्त में उसका उपशम हो जाता है। इधर जीव अपने उपादान में सम्यक्त्व प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है उधर कर्म स्वयं उपशम अवस्था धारण करता है। कर्ता कोई किसी का नहीं है। दोनों निरपेक्ष स्वतन्त्र अपना २ कार्य करते हैं पर अनादि अनन्त वस्तु का स्वतः ऐसा मेल है कि दोनों कार्य एक समय में निरपेक्ष होते हैं तथा—

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥११४८॥

सूत्रार्थ—उपशम सम्यक्त्व दर्शनमोह के उपशम से पुरुष की मिथ्यात्व से दूसरे प्रकार की अवस्था रूप है और वह चिद्विकल्प में आकार नहीं है (ज्ञानवत् साकार नहीं है, निराकार है)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—उपशम सम्यक्त्व नैमित्तिक पर्याय है और नैमित्तिक पर्याय का कथन निमित्त की ओर से हुआ करता है पर उसका यह अर्थ न समझ लेना कि उसने की है। उत्पन्न तो जीव ने अपने पुरुषार्थ से की है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरा नहीं किया करता। वह सम्यग्दर्शन रूप पर्याय क्या है तो बतलाते हैं कि यह जो अनादिकालीन मिथ्यात्व पर्याय है कि जिसका अनुभव सब जगत् को है वह इससे बिल्कुल दूसरे प्रकार की अवस्था है। अब उस अवस्था का निरूपण करते हुवे बतलाते हैं कि वह पर्याय निराकार है। आत्मा के अनन्त गुणों में मात्र एक ज्ञान गुण की पर्याय साकार है। शेष सब गुणों की निराकार है। स्व पर के आकार रूप होने को अर्थात् ज्ञेयाकार को सविकल्प पर्याय कहते हैं। सो यह बात उस सम्यग्दर्शन पर्याय में नहीं है। वह केवल निर्विकल्प अर्थात् राग रहित–भेद रहित–आकार रहित मात्र शुद्ध संवेदन रूप है। ज्ञान गुण की अवस्था को सम्यक्त्व नहीं कहते परन्तु सम्यक्त्व तो एक भिन्न निर्विकल्प गुण है और उपशम, सम्यक्त्व उसकी पर्याय हैं।

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥११४९॥

सूत्रार्थ—सामान्य से भी और विशेष से भी (गुण में भी और पर्याय में भी) सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्तारूप है, केवल आत्मा के प्रदेशों में परिणमन रूप है।

भावार्थ—ज्ञान गुण सामान्य में निर्विकल्प है क्योंकि उसका स्वरूप शुद्ध ज्ञान है जैसा श्री द्रव्यसंग्रह की गाथा ६ में कहा है और विशेष में (पर्याय में) ज्ञान गुण सविकल्प है–ज्ञेयाकार है क्योंकि जानने का कार्य पर्याय में होता है। गुण में नहीं। गुण तो शक्ति रूप त्रिकाल एक जैसा है। अब सम्यक्त्व के बारे में बताते हैं कि वह सामान्य में भी अर्थात् गुणमें भी निर्विकल्प है और विशेष में भी अर्थात् पर्याय में भी निर्विकल्प है। अब निर्विकल्प कहने से कोई यह समझे कि वह कुछ है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही नहीं तो कहते हैं कि निर्विकल्प होने से उसका विवेचन कठिन है पर वह है सत्तारूप-गुण में भी सत्तारूप है और पर्याय में भी सत्तारूप है। वस्तु है। और ज्ञान दर्शन चारित्र वीर्य आदि गुणों की तरह इन गुणों से भिन्न उसकी आत्म प्रदेशों में पृथक् पर्याय हर समय परिणमन रूप है और समय २ नई २ उत्पन्न होती रहती है और जीव उसकी शुद्धता का सुख भोगता रहता है। अब आत्मभूत उस सम्यक्त्व पर्याय का कुछ स्वरूप बतलाते हैं।

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥११५०॥

सूत्रार्थ—उसके विषय में यह उल्लेख है कि जैसे सूर्य की किरणों के द्वारा अन्धकार के नाश होने पर दिशायें सब प्रकार से निर्मल होकर प्रसन्नता को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार—

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥११५१॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोह के उपशम होने पर सम्यग्दृष्टि का भी वही उल्लेख है। सब प्रदेशों में शुद्धता हो जाती है जो शुद्धता तीन प्रकार के बन्ध (द्रव्य-भाव-उभय) का नाश करने वाली है।

भावार्थ—उस पर्याय का सीधा स्वरूप तो शब्दों में समझाना बड़ा कठिन है पर आचार्य दृष्टान्त द्वारा उसका कुछ प्रतिभास कराते हैं। जिस प्रकार वर्षा काल हो, अमावस्या की अन्धेरी रात हो, चारों ओर से बादल छाये हुवे हों, घुप अंधेरा हो, ऐसी दशा में दिशायें मैली होने से किसी पथिक को मार्ग नहीं मिलता किन्तु प्रातः होते ही यदि सूर्य निकल आये और उसकी किरणें फैलें तो दिशायें एकदम निर्मल हो जाती हैं। उसी प्रकार अनादि काल से जीव अज्ञानी है, दर्शनमोह का बादल छाया हुवा है। भाव मिथ्यात्व रूप अमावस्या की काली रात्री है। उस मैल के कारण जीव को अपने पराये का मार्ग नहीं मिलता है। जब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शनमोह का बादल फटता है। जीव पुरुषार्थ से भाव मिथ्यात्त्व को दूर करता है। श्रद्धा गुण रूपी सूर्य की सम्यग्दर्शन रूप किरणें फैलती हैं तो आत्मा के प्रदेशों से अनादिकालीन मैल दूर हो जाती हैं। और वे आत्म प्रदेश निर्मल अर्थात् शुद्ध हो जाते हैं। उस शुद्धता का नाम ही सम्यग्दर्शन पर्याय है और कहते हैं कि आत्मा केवल शुद्ध हो जाता है यही लाभ है या और भी कुछ लाभ है तो कहते हैं कि मिथ्यात्व भाव से जो आत्मा में द्रव्य बंध, भाव बंध, उभय बंध हुवा करता था और जिस के फल स्वरूप यह संसार बनता था वह तीनों प्रकार का बन्ध दूर होता है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध टूट जाता है और उस समय पंच-परावर्तन की श्रङ्खला पहाड़वत् फट जाती है। यह उसी समय उस एक समय की सम्यक्त्व पर्याय का फल है। अब एक और दृष्टान्त द्वारा सम्यक्त्व के स्वरूप का अनुभव कराते हैं।

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥११५२॥

सूत्रार्थ—अथवा सम्यग्दृष्टि का यह उल्लेख है कि, जैसे उतरे हुवे शराब या धतूरे के नशे का मूर्च्छित प्राणी अमूर्च्छित होकर प्रसन्न होता है।

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्च्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥११५३॥

सूत्रार्थ—उसी प्रकार दर्शन मोह के उदय से मूर्च्छा (स्व स्वरूप की असावधानता) वैचित्य (स्वस्वरूप की विपरीतता) तथा भ्रम (स्वस्वरूप में संशय) होता है। और इसके प्रशान्त होने पर मूर्च्छा के नाश होने से जीव नीरोगी (मिथ्यात्व रूप रोग से रहित) होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार शराब या धतूरे आदि के नशे में प्राणी अपने को भूल जाता है। माँ बहिन का विवेक खो बैठता है उसी प्रकार अनादि से यह जीव मिथ्यात्व रूप शराब में अपने को भूला हुवा है। शराबीवत् पर को स्व और स्व को पर कहता है। किन्तु जब शराब का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नशा उतर जाता है तो जीव अपने ठीक होशमें आकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार जब मिथ्यात्व का नशा उतर जाता है तो जीव स्व को स्व और पर को पर अनुभवता है तथा प्रसन्न होता है। उसके चेहरे की प्रसन्नता से सम्यक्त्व रूप शुद्धता टपकती रहती है बस वह प्रसन्नता या शुद्धता का केवल इन्हीं शब्दों में ज्ञान कराया जा सकता है। और कुछ विवेचन उस सीधी सम्यक्त्व पर्याय का नहीं हो सकता।

सार—सूत्र ११४३ से ११५३ तक का

सामान्य आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है। उन में एक सम्यक्त्व गुण है। सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है। यह गुण सामान्य में भी निर्विकल्प है। और विशेष में भी निर्विकल्प है। इस गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय सीधी तो केवलज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और परमावधि सर्वावधिका विषय है। मति श्रुत ज्ञान का वह पर्याय विषय नहीं है तो भी सम्यग्दर्शन के अविनाभावी गुणों "स्वात्मानुभूति श्रद्धा आदि जिनका निरूपण आगे करेंगे" के लक्षणों द्वारा उसीका यथार्थ निश्चय लक्ष्यलक्षण भेद द्वारा किया जा सकता है। जो ऐसा न होय तो किसी के भी इस सम्बन्धी संशय आदि दोष टले नहीं। वह सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है ? इस के उत्तर में ग्रंथकार कहते हैं कि सामान्य मात्र होने के कारण उसको वास्तविक-रूप से तो शब्दों में नहीं कहा जा सकता पर इतना समझना पर्याप्त है कि मिथ्यात्व आत्मा में एक कलुषता है और सम्यक्त्व एक निर्मलता है। प्रसन्नता है। जिसका अस्तित्व उसके अविनाभावी लक्षणों से प्रगट हो जाता है। जैसे मेघों के जाने पर दिशाएं निर्मल होती हैं, रोग के जाने पर रोगी प्रसन्न होता है। मद्यादि का नशा चले जाने पर जीव होश में आ जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप रोग के जाने पर आत्मा में से मोह सम्बन्धी कलुषता निकल कर सम्यक्त्व रूप शुद्धता प्रगट हो जाती है। इस शुद्धता का अनुभव प्रसन्नता रूप है। अतीन्द्रिय सुख रूप है। यह शुद्धता प्रगट होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही आत्मा में स्वतः द्रव्य और भावकर्मों का नाश प्रारम्भ हो जाता है और आत्मा का गमन जो अनादि से संसार की ओर था मुड़कर मोक्ष की ओर चल देता है जैसे पानी अपना रुख पलट लेता है । आत्मा में एक दर्शनमोहकर्म अनादि से सम्बन्ध रूप है। उसका स्वतः अपने कारण से उदय है। जब जीव सामान्य के आश्रयरूप पुरुषार्थ द्वारा सम्यक्त्व पर्याय प्रगट करता है यह कर्म विना जीव के कुछ किये स्वतः अपनी योग्यता से अनुदय रूप हो जाता है। ऐसा ही कुछ इस कर्म का और सम्यक्त्व का स्वतः अविनाभाव सम्बन्ध या समव्याप्ति है । यह तो सम्यक्त्व गुण का वास्तविक निरूपण है। अब आगे यह बतलाते हैं कि जिस समय यह सम्यक्त्व प्रगट होता है उस समय अविनाभावी ज्ञान-चारित्र आदि अन्य गुणों की कैसी अवस्था होती है जिस से सम्यक्त्व का अस्तित्व प्रगट झलकता है।

शुद्ध सम्यक्त्व का निरूपण समाप्त हुवा

विषय परिचय सूत्र ११५४ से १५८६ तक का

अब सम्यक्त्व के अनात्मभूत लक्षणों का निरूपण करते हैं उनमें सब से पहला खास लक्षण शुद्धात्मानुभूति है। यह सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण तो यूं नहीं कि सम्यक्त्व श्रद्धा गुण की पर्याय है और शुद्धात्मानुभूति-ज्ञान गुण की पर्याय है। अनात्मभूत लक्षण इसलिये है कि इस शुद्धात्मानुभूति का सम्यक्त्व से अविनाभाव है। समव्याप्ति रूप संबंध है। इसलिये शुद्धात्मानुभूति को सम्यक्त्व का लक्षण भी कह देते हैं। अब यह समझने की आवश्यकता है कि वह शुद्धात्मानुभूति क्या है और कितने प्रकार की है:—

(१) ऐसा कुछ वस्तु स्वभाव का नियम है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय मतिश्रुतज्ञानावरण कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हो जाता है जो क्षयोपशम आत्मा का अनुभव करने में कारण है। इस क्षयोपशम को लब्धि रूप शुद्धात्मानुभूति कहते हैं। इस की सम्यक्त्व से समव्याप्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है अर्थात् इतना सम्यक्त्व रहेगा इतना यह अवश्य रहेगी और सम्यक्त्व नष्ट होते ही उसके साथ यह भी नाश हो जायेगी।

(२) दूसरी शुद्धात्मानुभूति साक्षात् अनुभव रूप होती है। जब ज्ञानी अपने उपयोग को सब परज्ञेयों से हटा कर केवल अपने आत्मा का अनुभव किया करते हैं। उस समय यह होती है। यह क्षणिक है पर होती सम्यग्दृष्टि को ही है। अतः इसको भी सम्यक्त्व का लक्षण कह देते हैं। वह निरूपण सूत्र ११५५ से ११७७ तक किया गया है।

(३) इससे आगे निम्नलिखित लक्षणों में यह बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और चारित्र का बुद्धिपूर्वक कैसा २ परिणमन हुवा करता है। ये सब अविनाभावी चिन्ह हैं। इसमें एक और खास विवेक की आवश्यकता है कि यह चिन्ह तो मिथ्यादृष्टि में भी प्रगट हो जाते हैं जिनके बल पर वह नवमें ग्रीवक पर्यन्त गमन करता है पर उस में यह आभास रूप होते हैं। Imitation नकली। किन्तु स्वात्मानुभूति ज्ञान की पर्याय होते हुवे भी वह एक ही ऐसा लक्षण है कि सम्यग्दृष्टि के ही होता है मिथ्यादृष्टि के कभी कहीं भी नहीं होता। अतः ग्रन्थकार को यह लिखना पड़ा कि यदि यह लक्षण शुद्ध स्वात्मानुभूति के सहचर हैं तो सम्यक्त्व के लक्षण हैं अन्यथा नहीं। ऐसी परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिये। वे लक्षण ये हैं और इस प्रकार से उनका निरूपण हैः—

(१) श्रद्धा-रुचि-प्रतीति-चरण सूत्र ११७८ से ११९१ तक
(२) प्रशम-संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा-आस्तिक्य सूत्र ११९२ से १२३५ तक
(३) भक्ति-वात्सल्यता-निन्दन-गर्हण सूत्र १२३६ से १२४४ तक।
(४) निशंकित अंग आदि प्रसिद्ध आठ अंग सूत्र १२४५ से १५८६ तक।
यह ध्यान रहे कि ये सब लक्षण सम्यक्त्व के अनात्मभूत लक्षण हैं क्योंकि यह श्रद्धा गुण का परिणमन नहीं है किन्तु बुद्धिपूर्वक ज्ञान और चारित्र का परिणमन है और सब विकल्पात्मक (रागवाला) परिणमन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥११५४॥

सूत्रार्थ--श्रद्धान आदि गुण सम्यग्दृष्टि आत्मा के बाह्य लक्षण (अनात्मभूत लक्षण हैं)। वे (श्रद्धान-आदि) ही सम्यक्त्व नहीं है क्योंकि वे ज्ञान (और चारित्र) गुण की पर्यायें हैं।

भावार्थ—जिस समय पूर्व निरूपित शुद्ध सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसी समय ज्ञान और चारित्र गुण का परिणमन अविनाभाव संबंध से बदल जाता है। ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और शुद्ध स्वात्मानुभूति (ज्ञान चेतना) का धारी हो जाता है तथा चारित्र गुण में अनन्तानुबंधी कषायों का अभाव होने से प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि आत्मा अखण्ड है और ज्ञान और चारित्र गुण भी उसी आत्मा के हैं। उनका ऐसा परिणमन सम्यक्त्व से अविनाभावी है। अतः उनको भी सहचारिता के कारण सम्यक्त्व के लक्षण कहने में कोई दोष नहीं है। अब पहले ज्ञान पर्याय को सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं—

दूसरा अवान्तर अधिकार

सम्यक्त्व का लक्षण "स्वात्मानुभूति" सूत्र ११५५ से ११७७ तक २३

अपि स्वात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥११५५॥

सूत्रार्थ—और स्वात्मानुभूति भी ज्ञान रूप है क्योंकि ज्ञान की पर्याय है। वास्तव में (वह स्वात्मानुभूति रूप) ज्ञान सम्यक्त्व नहीं है; यदि है तो बाह्य लक्षण है (अनात्मभूत लक्षण है) अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूति पर्याय तो ज्ञान की है पर सहचरता के कारण उसे सम्यक्त्व का लक्षण कह देते हैं।

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वाङ्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥११५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जैसे स्वस्थपना वास्तव में कठिनता से जानने योग्य है पर वचन-मन-काया की क्रियाओं के उत्साहादिगुण रूप स्थूल लक्षणों द्वारा जाना जाता है। उसी प्रकार शुद्ध सम्यक्त्व सूक्ष्म और निर्विकल्प है। कठिनता से जानने योग्य है। केवल श्रद्धानादि वा शुद्ध आत्मानुभूति रूप बाह्य लक्षणों द्वारा जाना जाता है।

भावार्थ—जैसे बहुत समय से कोई रोगी हो, दुःखी हो। भवितव्यता वश उसका दुःख दूर हो जाय और वह निरोगी-स्वस्थ हो जाय तो उस स्वस्थता का उसे अनुभव तो है पर वह स्वस्थता सीधी शब्दों में नहीं कही जा सकती है। उसके मन वचन काया की क्रियाओं में उस स्वस्थता के कारण जो उत्साह आ जाता है उस से वह प्रगट हो जाती है। उसी प्रकार जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व रूपी रोग से ग्रसित है। जिस समय सम्यक्त्व रूप निर्मलता उस आत्मा में प्रगट होती है, उस समय उस में शुद्धात्मानुभव प्रारम्भ हो जाता है। देव, शास्त्र, गुरु, तत्त्व की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। कषायें प्रशमता को धारण कर लेती हैं। ज्ञान का झुकाओ पर की ओर से स्व की ओर हो जाता है। इनसे सम्यक्त्व का अस्तित्व पता चल जाता है।

शङ्का

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥११५७॥

शङ्का—आत्मानुभव स्वयं वस्तुपने से साक्षात् सम्यक्त्व है क्यों कि इस (आत्मानुभव) की मिथ्यादृष्टि के सब प्रकार से किसी काल में भी संभवता नहीं है।

भावार्थ—शङ्काकार आत्मानुभूति को सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण न मान कर आत्मभूत लक्षण मानता है और कहता है कि यही साक्षात् सम्यक्त्व है अर्थात् श्रद्धागुण की पर्याय है। अपनी बात की पुष्टि में युक्ति भी देता है क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि के ही होती है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यादृष्टि के कभी किसी अवस्था में नहीं होती। अतः उसे सम्यक्त्व मानना ही ठीक है। उसकी इस शङ्का का आधार यह है कि वह ज्ञान और श्रद्धान गुण की पर्याय का परस्पर अन्तर नहीं जानता है तभी तो ज्ञान की पर्याय को श्रद्धा की पर्याय कहता है। सो उत्तर में आचार्य देव उसे दोनों गुणों की पर्याय की भिन्नता का विवेक कराते हैं।

समाधान सूत्र ११५८ से ११६० तक ३

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥११५८॥

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि तू सत्सामान्य और सत्विशेष में और अनाकार साकार लक्षणों में अजान है। वह इस प्रकार कहा जाता है।

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥११५९॥

सूत्रार्थ—आकार (शब्द का अर्थ) "अर्थविकल्प" है। अर्थ 'स्व + पर' पदार्थ है। विकल्प उपयोग है अर्थात् स्व पर के आकार का अवभासन है। यह ज्ञान का ही लक्षण है (भाव तीसरी पुस्तक में प्रमाण में स्पष्ट हो चुका है)।

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥११६०॥

सूत्रार्थ—जो आकार रूप नहीं है, वह निराकार है, वही वस्तुपने से निर्विकल्पता है। वह (निर्विकल्पता) ज्ञान को छोड़ कर शेष अनन्त गुणों का लक्षण है।

भावार्थ—(सूत्र ११५८ से ११६० तक) उसे यह बतलाया है कि सत् सामान्य, गुण को कहते हैं और सत् विशेष, पर्याय को कहते हैं। सामान्य में अर्थात् गुण में तो सभी गुण निर्विकल्प हैं किन्तु पर्याय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक ज्ञान गुण सविकल्प है शेष सब निर्विकल्प हैं। ज्ञान की पर्याय के ज्ञेयाकार रूप होने को सविकल्प कहते हैं अर्थात् स्व और पर के आकार रूप परिणमन करने को सविकल्प कहते हैं। यह बात एक ज्ञान गुण में ही है और किसी गुण में नहीं है अतः भाई शुद्ध आत्मानुभूति जो ऊपर कही गई है वह सविकल्प है और शुद्ध सम्यक्त्व निर्विकल्प है। अतः वह शुद्ध आत्मानुभूति साक्षात् सम्यक्त्व नहीं है। अविनाभाव होने से सहचर है। बाह्य लक्षण है। अनात्मभूत लक्षण है।

शङ्का

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत्।
तत् किं किंचिदनाकारं किंचित्साकारमेव तत् ॥११६१॥

शङ्का--सत्सामान्य और सत्विशेष सब (दोनों) वास्तविक हैं तो फिर वह कोई अनाकार और कोई साकार ही क्यों है ?

समाधान सूत्र ११६२ से ११७७ तक १६

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत्।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं सद्विशेषभाक् ॥११६२॥

सूत्रार्थ—ठीक है पदार्थरूप से ज्ञान सामान्य (गुण) रूप भी है और विशेष (पर्याय) रूप भी है। जो सामान्य में अनाकार है और विशेष में साकार है अर्थात् ज्ञान; गुण रूप भी है। पर्याय रूप भी है। गुण में निराकार है। पर्याय में साकार है।

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥११६३॥

सूत्रार्थ—ज्ञान के विना सब गुण सत्-लक्षण से अङ्कित (युक्त) कहे गये हैं। वे वास्तव में सामान्य से और विशेष से आकारमात्रक (अर्थविकल्पात्मक) नहीं हैं।

भावार्थ—ज्ञान को छोड़कर श्रद्धा, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि अनन्त गुण भी ज्ञान की तरह आत्मा में सत् रूप हैं। अपनी २ सत्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखते हैं। जो २ सत् होता है वह उत्पाद व्यय ध्रुव युक्त होता है अर्थात् गुण रूप कायम रह कर पर्याय में बदला करता है। इसलिये अन्य गुण भी है। उनकी पर्याय भी है पर वे पर्यायें ज्ञेयाकार रूप नहीं है। अतः सविकल्पक नहीं है। और सामान्य में तो अर्थात् गुण रूप से तो ज्ञान भी निर्विकल्प है। शेष सब भी निर्विकल्प हैं।

ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥११६४॥

सूत्रार्थ—इसलिये निर्विकल्प वस्तु के कहने के लिये अशक्य होने से (अनिर्वचनीय होने से) उसके उल्लेख (लक्षण-स्वरूप) को जाँच कर ज्ञान द्वारा निरूपण किया जाता है।

भावार्थ—अब शिष्य को आचार्य महाराज एक नियम और समझाते हैं कि निर्विकल्प चीज शुद्ध होती है। उसका वचन में निरूपण नहीं आया करता। हाँ ज्ञान स्वपर प्रकाशक है वह अपने को भी जानता है और शेष सब गुणों को भी जानता है। सब गुणों की पर्यायें ज्ञेय बन कर उस में आती हैं और वह उनके स्वरूप को जान लेता है। अतः भाई उनका स्वरूप ज्ञान में जाँचकर फिर कुछ शब्द में निरूपण किया जाता है।

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥११६५॥

सूत्रार्थ—ज्ञान एकसाथ स्व और अपूर्वार्थ (पर) दोनों का ही ग्राहक (जानने वाला) है पर ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं है। ज्ञान ज्ञान है। पर (अपूर्वार्थ) पर (अपूर्वार्थ) है।

भावार्थ—ज्ञान एक साथ अपने को और शेष सब गुणों को जान जरूर लेता है पर इस का यह मतलब नहीं कि ज्ञान उन रूप हो जाता हो या उनकी पर्याय बन जाता हो या वे गुण ज्ञान रूप बन जाते हों या ज्ञान की पर्याय बन जाते हों। ज्ञान २ ही रहता है। वे २ ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहते हैं। इसलिये शुद्ध आत्मानुभूति सम्यक्त्व नहीं हो जाता क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है।

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थः स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥११६६॥

सूत्रार्थ—निश्चय से ज्ञान मात्र आत्मा का एक ज्ञान गुण स्वार्थ है। शेष सुखादिक गुण स्वार्थ सम्बन्धी परार्थ हैं अर्थात् सुखादिक एक ही आत्मा के अन्य गुण हैं पर ज्ञेय हैं तो भी अन्य पदार्थवत् भिन्न सत् रूप नहीं हैं।

भावार्थ—ज्ञान को स्व कहते हैं। शेष सब को पर कहते हैं। उस पर में एक तो आत्मा से भिन्न छः द्रव्य हैं वे भी सब पर हैं। दूसरे आत्मा के ज्ञान गुण के अतिरिक्त आत्मा में जितने दर्शन, चारित्र, श्रद्धा, वीर्य आदि गुण हैं वे भी सब ज्ञान के लिये पर हैं। जिस प्रकार ज्ञान के लिये अन्य पदार्थ ज्ञेय हैं उसी प्रकार वे अन्य गुण भी ज्ञेय हैं। पर पदार्थों को परार्थ अर्थात् पर अर्थ अर्थात् पर पदार्थ कहते हैं और अन्य गुणों को स्वार्थसम्बन्धि परार्थ कहते हैं अर्थात् ज्ञान पदार्थ से एक द्रव्य रूप से सम्बन्धित हैं पर ज्ञेय की अपेक्षा पर पदार्थ हैं। भिन्न हैं। इसलिये स्वात्मानुभूति साक्षात् सम्यक्त्व नहीं है किन्तु स्वार्थसम्बन्धी परार्थ है।

तद्यथा सुखदुखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥११६७॥

सूत्रार्थ—वह इस प्रकार कि सुख-दुःख-आदि-भाव स्वयं जीव का गुण है। और ज्ञान निश्चय से उसका वेदन करने वाला है। पदार्थ रूप से ज्ञान सुखादिमय नहीं हो जाता।

भावार्थ—उपर्युक्त का भाव यह है कि ज्ञान के अतिरिक्त अन्य गुण भी स्वयं उस आत्मा के गुण हैं पर वे स्वयं अपने को या पर को जानने वाले नहीं हैं। ज्ञान ही उन सब का ज्ञाता है। वेदन-अनुभवन भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान करता है। सुखी दुःखी रागी द्वेषी भी ज्ञान होता है पर फिर भी गुण लक्षण भेद से प्रत्येक गुण भिन्न २ पदार्थ हैं इसलिये ज्ञान स्वयं उन रूप नहीं हो जाता किन्तु उनका ज्ञाता ही कहा जाता है। यह दूसरी बात है कि अज्ञानी का ज्ञान भेद विज्ञान के अभाव के कारण अपने में और अन्य गुणों में भेद का अनुभव नहीं कर सकता है और ज्ञान को ही कर्मचेतना और कर्मफल चेतनारूप से अनुभवता है किन्तु ज्ञानी का ज्ञान तो बराबर भेदविज्ञान द्वारा भिन्न २ ही जानता है और भिन्न २ ही अनुभव भी करता है। इसलिये स्वात्मानुभूति भिन्न है सम्यक्त्व भिन्न है।

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद् वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥११६८॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व वस्तु रूप से सूक्ष्म है; वचनों के अगोचर है। इसलिये विधिपूर्वक कहने के लिये और सुनने के लिये (कोई भी) अधिकारी नहीं है (यह सम्यक्त्व की सीधी आत्मभूत पर्याय की अपेक्षा कथन है)।

खास सूत्र

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत् परमं पदम् ॥११६९॥

सूत्रार्थ—आत्मा की साधनादि विधि में ज्ञान ही एक प्रसिद्ध (साधन) है और (ज्ञान ही) स्वानुभूति का एक कारण है। इसलिये वह परम पद है।

भावार्थ—अन्य गुणों में पुरुषार्थ नहीं होता वे तो केवल ज्ञेय रूप है। ज्ञान द्वारा ही जीव अनादि का पर को एक रूप जानकर, उस में अपने ज्ञान को रागी द्वेषी मोही बना कर, ज्ञान को बंध का साधन बनाकर, संसार में भटक रहा है और ज्ञान द्वारा ही जीव स्व पर का भेद विज्ञान करके, ज्ञान को पर से मोड़ कर, अपने सामान्य तत्त्व में जोड़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर ज्ञानी बनता है और फलस्वरूप सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वतः प्रगट हो जाती है। ज्ञान द्वारा ही अतीन्द्रिय सुख का भोग करता है। और ज्ञान का मात्र शुद्ध ज्ञान रूप रह जाना ही मोक्ष है। सर्वतात्पर्य यह है कि ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है। श्रीसमयसार में तो आत्मा को ज्ञान शब्द से ही वाच्य बनाया है। और आत्मानुभूति को ही सम्यक्त्व कहा है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥११७०॥

सूत्रार्थ—उसमें भी जो आत्मानुभूति है वह आत्मा का विशिष्ट ज्ञान है। वह (स्वात्मानुभूति रूप विशेष ज्ञान) सम्यक्त्व से अन्वय से और व्यतिरेक से अविनाभावी है।

भावार्थ—प्रकरण आत्मानुभूति का चल रहा है। शिष्य आत्मानुभूति को श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय मान कर सम्यक्त्व का आत्मभूत लक्षण कहता है। और श्रीअमृतचन्द्र गुरुदेव उसे ज्ञान की पर्याय बतला कर सम्यक्त्व से अविनाभाव होने के कारण उसे सहचर अर्थात् सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण कह रहे हैं। उसे समझाते हैं कि यह आत्मानुभूति, इस ज्ञान गुण की सम्यक्त्व होने पर विशेष अवस्था हो जाती है। ज्ञान की उस विशेष अवस्था का नाम आत्मानुभूति है। अतः वह स्वयं सम्यक्त्व नहीं है, हाँ उसकी सम्यक्त्व के साथ दोनों ओर से व्याप्ति जरूर है। जहाँ २ सम्यक्त्व है वहाँ २ आत्मानुभूति है और जहाँ २ आत्मानुभूति है वहाँ २ सम्यक्त्व है तथा जहाँ २ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ २ आत्मानुभूति भी नही है। तथा जहाँ २ आत्मानुभूति नहीं है। वहाँ २ सम्यक्त्व भी नहीं है। इस अन्वय व्यतिरेक अविनाभाव के कारण उसे सम्यक्त्व का लक्षण आगम में तथा लोकव्यवहार में कहने की पद्धति है पर भाई इसमें इतना विवेक अवश्य रहना चाहिये कि यह अनात्मभूत लक्षण है। आत्मभूत नहीं। इसी के द्वारा तो मति, श्रुत और देशावधि वाले अपने सम्यक्त्व का निश्चय करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका ॥११७१॥

सूत्रार्थं—इसलिये उन दोनों में (सम्यक्त्व और स्वात्मानुभूति में) व्याप्ति का सद्भाव होने से आत्मानुभूति को भी सम्यक्त्व कहा जा सकता है वह भी तब जबकि वह स्वात्मानुभूति शुद्धनयात्मक हो अर्थात् शुद्धात्मानुभूति हो (ज्ञान चेतना रूप हो। अज्ञान चेतना रूप न हो)।

भावार्थ—(१) आचार्य शिष्य की शङ्का का उत्तर देते हुवे समझाते हैं कि क्योंकि आत्मानुभूति और सम्यक्त्व का अविनाभाव संबंध है इस अपेक्षा उसे सम्यक्त्व का लक्षण कहा जा सकता है पर यह बात भी ज्ञान में रहनी चाहिये कि वह वास्तव में सम्यक्त्व रूप नहीं क्योंकि श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है किन्तु ज्ञान की पर्याय है (२) दूसरी बात यह बताते हैं कि आत्मानुभूति तो सब जीवों को है। मिथ्यादृष्टि को भी है उसे आत्मा का अनुभव कर्मचेतना कर्मफलचेतना रूप है। बिना आत्मानुभव तो कोई जीव जगत् में है ही नहीं। यदि वह आत्मानुभूति ज्ञानचेतना रूप है अर्थात् शुद्ध आत्मा की अनुभूति है। सामान्य के वेदन रूप है तब सम्यक्त्व का अनात्मभूत लक्षण कही जा सकती है। और उसी की सम्यक्त्व के साथ व्याप्ति है अन्यथा सम्यक्त्व का लक्षण नहीं कही जा सकती है। इस का स्पष्टीकरण चौथी पुस्तक में हो चुका है।

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥११७२॥

सूत्रार्थं—इतना विशेष है कि सम्यक्त्व और उपयोग रूप अनुभव दोनों में विषम व्याप्ति है। वह इस प्रकार कि—उपयोग में (अर्थात् उपयोग रूप स्वात्मानुभूति और सम्यक्त्व की) समव्याप्ति नहीं है किन्तु वह समव्याप्ति लब्धि रूप स्वात्मानुभूति में तो है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—शुद्धात्मानुभूति दो प्रकार की होती है एक लब्धिरूप एक उपयोग रूप। बहुत से जीव समझते हैं कि सम्यक्त्व दो प्रकार का होता है एक लब्धिरूप एक उपयोगरूप। यह उनकी धारणा गलत है। सम्यक्त्व न लब्धि रूप होता है न उपयोग रूप। सम्यक्त्व में यह भेद ही नहीं है। वह आत्मा की निर्विकल्प शुद्धि का नाम है। लब्धि उपयोग तो ज्ञान की पर्याय में होते हैं। ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम को कि जो क्षयोपशम आत्मशुद्धि में कारण है। उसको लब्धि रूप स्वात्मानुभूति कहते हैं। इसकी तो सम्यक्त्व के साथ दोनों ओर से व्याप्ति है। इसीको समव्याप्ति कहते हैं जैसे जहाँ २ सम्यक्त्व है वहाँ २ यह लब्धिरूप स्वात्मानुभूति है तथा जहाँ २ लब्धि रूप स्वात्मानुभूति है वहाँ २ सम्यक्त्व है। इसी के आधार पर शुद्ध आत्मानुभूति सम्यक्त्व का लक्षण कहा जाता है। यह स्वात्मानुभूति सम्यग्दृष्टि को खाते पीते सोते जागते हर समय रहती है। इस का विरह नहीं है। एक स्वात्मानुभूति उपयोग रूप होती है। जिस समय सम्यग्दृष्टि सब पर कार्यों को छोड़कर आत्मध्यान में लीन होता है। बुद्धिपूर्वक सब विकल्पों का अभाव होता है। मात्र उपयोग पूर्णतया स्व में रमता है इसको उपयोगरूप स्वात्मानुभूति कहते हैं। किन्हीं २ का विचार है कि यह उपयोगरूप स्वात्मानुभूति सातवें या आठवें गुणस्थान में प्रारंभ होती है पर वह धारणा बिलकुल गलत है। यह भी चौथे से ही होती है। चौथे को बहुत देर २ में होती है। पाँचवें वाले को उससे जल्दी २ होती है और छठे वाले को अन्तर्मुहूर्त बाद नियम से होती है। सातवें से सिद्ध तक तो हैं ही स्वात्मानुभूति रूप। यह जो उपयोगरूप स्वात्मानुभूति है इसकी सम्यक्त्व के साथ समव्याप्ति नहीं है किन्तु विषमव्याप्ति है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ २ यह उपयोगात्मक अनुभूति है वहाँ २ तो सम्यक्त्व जरूर है और जहाँ २ सम्यक्त्व है वहाँ २ यह होती भी है और नहीं भी होती है। जिस समय सम्यक्त्वी ध्यानावस्था में होता है उस समय होती है शेष समय में नहीं होती। अब स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र जी इसी बात को समझाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पष्टीकरण सूत्र ११७३ से ११७७ तक ५

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि ।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥११७३॥

सूत्रार्थ—खुलासा इस प्रकार है कि स्वात्मानुभूति के होने पर अथवा स्वात्मानुभूति के काल में भी उस आत्मा में सम्यक्त्व अवश्य ही है। क्योंकि उस (सम्यक्त्व रूप कारण) के बिना वह (स्वात्मानुभूति रूप कार्य) भी नहीं है।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान् ।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः ॥११७४॥

सूत्रार्थ—अथवा इस प्रकार से भी विषमव्याप्ति कही जाती है कि सम्यक्त्व के होने पर वह आत्मा स्वात्मानुभूति के उपयोग सहित होवे अथवा न भी होवे किन्तु इतना अवश्य है कि शुद्ध (सामान्य आत्मा) का अनुभव वहाँ लब्धिरूप वस्तुतः है।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यतः ।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥११७५॥

सूत्रार्थ—उसमें भी कारण है (अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर नियमपूर्वक लब्धिरूप स्वात्मानुभूति के रहने में कारण यह है) कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय में अवश्य ही स्वतः (अपने कारण से) उस ज्ञानावरण की यथायोग्य अवस्थान्तर होती है (विशिष्ट क्षयोपशम होता है)।

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥११७६॥

सूत्रार्थ—क्योंकि छद्मस्थ (सम्यग्दृष्टी) का उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है और अछद्मस्थ (केवली) में नित्य होता है और छद्मस्थ (सम्यक्त्वी) के लब्धिरूप ज्ञान नित्य रहता है। ऐसा नियम है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥११७७॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा न करके सामान्य मात्रपने से नित्य है अर्थात् जब तक औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक कोई भी सम्यक्त्व है तब तक सामान्यपने सम्यग्दृष्टि है और उस सम्यक्त्व और उपयोगात्मक अनुभव-इन दोनों में विषम व्याप्ति सिद्ध होती है। भावार्थ ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

सम्यक्त्व का लक्षण स्वात्मानुभूति समाप्त हुवा

तीसरा अवान्तर अधिकार

सम्यक्त्व के सहचर लक्षण-'श्रद्धा-रुचि-प्रतीति-चरण'

सूत्र ११७८ से ११९१ तक १४

अपि सन्ति गुणाः सम्यक्श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥११७८॥

सूत्रार्थ—सच्चा श्रद्धान-आदि विकल्प वाले भी (सम्यक्त्व के) गुण (लक्षण) हैं। उनका उद्देश, लक्षण और उनकी परीक्षा अब कही जाती है।

भावार्थ—सम्यक्त्व का वास्तविक आत्मभूत लक्षण (स्वरूप) तो वही है जो सूत्र ११४३ से ११५३ तक निरूपित है। दूसरे नम्बर पर सम्यक्त्व का वह लक्षण (स्वरूप) ठीक है जो आत्मानुभूति रूप है। क्योंकि यह निर्विकल्प है और सम्यक्त्व से अविनाभावी है। अब तीसरे नम्बर पर उसके लक्षण जो विकल्पात्मक हैं उनको बताते हैं। ये वास्तव में चारित्र गुण की विभाव पर्याय रूप हैं। अतः इनको चारित्र गुण की पर्याय समझें। दूसरे छद्मस्थ का ज्ञान ही इन विकल्पों में प्रवृत्त होता है अतः इन को ज्ञान की पर्यायें भी कह देते हैं। ये वास्तव में सम्यक्त्व नहीं पर क्योंकि ये सब बातें विकल्पात्मक होते हुवे भी ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विकल्प सम्यग्दृष्टि में ही उत्पन्न होते हैं। अतः इन को भी आरोप से सम्यग्दर्शन का सहचर लक्षण आगम में तथा लोक में कहने की रूढ़ि है। इनमें एक खास बात यह हैं कि ये लक्षण होते तो मिथ्यादृष्टि में भी हैं पर उसमें आभास रूप है-नकली हैं। इसलिये इनको सम्यक्त्व कहने में व्यभिचार दोष नहीं है। इसको एक दृष्टान्त से स्फुट करके दिखलाते हैं। जैसे देवगुरु का श्रद्धान सम्यग्दृष्टिको भी होता है;मिथ्यादृष्टि को भी होता है। पर अन्तर जमीन आसमान का है। सम्यग्दृष्टि को वह श्रद्धा स्वलक्षी हैं और मिथ्यादृष्टि को परलक्षी है। सम्यग्दृष्टि को अपनी आत्मा का स्वात्मानुभूति द्वारा प्रगट प्रत्यक्ष हो गया है। उस के आधार पर उसे ये श्रद्धा जमी है कि जैसा यह आत्मा मुझे अनुभव में आ रहा है जिसको यह पूरा अनुभव में है वह देव है और जिसको मध्यम अनुभव है वह गुरु है। अतः उसकी श्रद्धा को सम्यक्श्रद्धा-सच्ची श्रद्धा-वास्तविक श्रद्धा कहा है क्योंकि उसने प्रत्यक्ष देखकर पदार्थ की श्रद्धा की है। यह बात स्वयं श्रीअमृतचन्द्र जी महाराज ने आगे सूत्र १२३०में कही है तथा मिथ्यादृष्टि को आत्म प्रत्यक्ष तो है नहीं। अरहन्तदेव-निर्ग्रन्थ गुरु की परलक्षी श्रद्धा आगम आधार पर है। श्रद्धा तो ऐसी हैं कि सिर कट जाये पर श्रद्धा में अन्तर नहीं आता जभी तो नववें ग्रीवक तक जाता है पर यह तो बिना देखे की श्रद्धा है। आत्मा का दर्शन हुवा ही नहीं फिर कैसा देव और कैसा गुरु। उस श्रद्धा को श्रीअमृतचन्द्र जी ने आगे सूत्र ११८८ में गधे के सींगवत् कहा है। वास्तव में जो चीज देखी नहीं उसकी श्रद्धा गधे की सींगवत् ही है। अतः ज्ञानियों ने उसे आभासमात्र कहा है। अतः यहाँ से इस पुस्तक के अन्त तक जितने लक्षणों का निरूपण करेंगे उन सब की यही दशा है। अतः श्री अमृतचन्द्र जी गुरुदेव ने कहा है कि यदि ये लक्षण आत्मानुभूति के सहचर हैं तो ही सच्चे लक्षण हैं। तभी उन्हें सम्यक्त्व के आरोपित लक्षण समझना। अन्यथा आरोप किस का। जहाँ असली चीज हो वहीं तो सहचर पर आरोप आता है अन्यथा आरोप किस का ? जहाँ उपादानमें परिणमन होता है वहाँ ही तो निमित्त पर आरोप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आता है अन्यथा आरोप किस का ? जहाँ शुद्ध निश्चयमोक्षमार्ग है वहीं तो रागरूप-विकल्प पर-व्यवहार मोक्षमार्ग का आरोप है अन्यथा आरोप किस का ? सो अगला सब कथन इसी के आधार पर समझें। उद्देश नाम मात्र कथन को कहते हैं ? लक्षण उसके पहचानने के चिन्ह को कहते हैं और परीक्षा उस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोष के परिहार को कहते हैं। सो अब आचार्यदेव प्रत्येक का भिन्न २ उद्देश, फिर उनका भिन्न २ लक्षण निर्देश तथा फिर प्रत्येक की परीक्षा दोष परिहार द्वारा दिखलायेंगे ।

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥११७९॥

सूत्रार्थ—उन (उद्देश-लक्षण-परीक्षा) में उद्देश नाम को कहते हैं। आम्नाय (परंपरा) के अनुसार तत्त्वार्थ के विषय में वास्तविक श्रद्धा रुचि, प्रतीति, आचरण—ये उद्देश कथन है।

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात् स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥११८०॥

सूत्रार्थ—तत्त्वार्थ के सन्मुख बुद्धि-श्रद्धा है। तत्त्वार्थ में लगन-रुचि है और तत्त्वार्थ का स्वरूप ऐसा ही है यह स्वीकार-प्रतीति है। तत्त्वार्थ के अनुसार क्रिया-चरण है। ये लक्षण कथन है। अब परीक्षा करते हैं।

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥११८१॥

सूत्रार्थ—पदार्थरूप से आदि के तीन (श्रद्धा-रुचि-प्रतीति) ज्ञान रूप हैं क्योंकि ये ज्ञान की ही पर्यायें हैं। शुभ क्रियाओं में वचन-काय-मन के द्वारा व्यापार चरण है।

भावार्थ--सम्यग्दृष्टि का सहचर विकल्पात्मक ज्ञान जो नौ पदार्थ की श्रद्धा रूप प्रवृत्त होता है उसे यहाँ सम्यक्त्व कहा है तथा व्यवहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म के आचरण रूप जो शुभ विकल्प हैं जो चारित्र गुण की पुण्य तत्त्व रूप विभाव पर्याय है उस पर सम्यक्त्व का आरोप किया है। मन वचन काय की क्रियाओं पर नहीं। वे तो पुद्गल की स्वतन्त्र क्रियायें होती हैं। उन का ज्ञानी कि अज्ञानी कोई कर्ता नहीं है। शुभ विकल्प का निर्देश मन वचन काया की क्रियाओं द्वारा करने की आगम तथा लोक में रूढ़ि है।

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥११८२॥

सूत्रार्थ—ये चारों (श्रद्धा, रुचि, प्रतीति-चरण) भिन्न २ अथवा सब के सब सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं भी और नहीं भी हैं क्योंकि सपक्ष और विपक्ष में होते भी हैं अथवा नहीं भी होते हैं।

भावार्थ—सपक्ष का अर्थ सम्यग्दृष्टि है और विपक्ष का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। सपक्ष में होते भी हैं और नहीं भी होते हैं का अर्थ तो यह है कि ये विकल्पात्मक बातें चौथे पाँचवें छठे गुणस्थान वालों में तो होती हैं किन्तु उनके ऊपर के ज्ञानियों में नहीं होती। इसलिये सब सम्यग्दृष्टियों में नहीं पाये जाने से अव्याप्ति दोष आने से सम्यक्त्व के त्रिकाली लक्षण नहीं हैं। विपक्ष में होते भी हैं और नहीं भी होते का अर्थ यह है कि किसी मिथ्यादृष्टि में नहीं होते किसी में होते भी हैं। अतः अतिव्याप्ति दोष आ जाने से भी सम्यक्त्व के लक्षण नहीं है। इन दोषों का परिहार यह है कि जहाँ इनको सम्यक्त्व का लक्षण कहा है वह तो चौथे पाँचवे छठे की अपेक्षा ही कहा है। अव्याप्ति दोष तो इस प्रकार दूर हो जाता है और मिथ्यादृष्टि में ये आभास रूप होते हैं। स्वात्मानुभूति उसकी परीक्षा है। यदि स्वात्मानुभूति सहित हैं तो श्रद्धा आदि सच्चे हैं क्योंकि अनुभव पूर्वक श्रद्धा है अन्यथा वह श्रद्धा बिना अनुभव गधे के सींगवत् है। इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष का परिहार है। स्वात्मानुभूति एक सम्यक्त्व का ऐसा लक्षण है जो चौथे से सिद्ध तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी सम्यग्दृष्टियों में ही पाया जाता है और किसी मिथ्यादृष्टि में कहीं भी नहीं पाया जाता हैं। अतः परीक्षा करने से वह ही सम्यक्त्व का ठीक लक्षण बैठता है पर है वह भी अनात्मभूत।

स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥११८३॥

सूत्रार्थ—यदि स्वानुभूति सहित हैं तो श्रद्धा-आदिक सम्यक्त्व के गुण (लक्षण) हैं। स्वानुभूति के बिना आभास रूप हैं। वास्तव में वे श्रद्धा-आदिक गुण नहीं हैं-सम्यक्त्व के लक्षण नहीं हैं।

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत्।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥११८४॥

सूत्रार्थ—इसलिये श्रद्धा,आदि सब स्वानुभूति सहित सम्यक्त्व हैं। स्वानुभूति के बिना सम्यक्त्व नहीं हैं किन्तु उसके आभास रूप हैं (जैसे-श्रद्धाभास, रुच्याभास इत्यादिक)। वे स्वतः मिथ्या श्रद्धानादि के समान हैं अर्थात् श्रद्धा आदिक ही नहीं हैं या मिथ्याश्रद्धादिक हैं।

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां बिना श्रद्धादिमात्रकाः।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥११८५॥

सूत्रार्थ—सम्यक् और मिथ्या विशेषणों के बिना मात्र श्रद्धा-आदिक सपक्ष के समान विपक्ष में भी रहने से व्यभिचारी हैं (व्यभिचार दोष युक्त हैं)।

भावार्थ—केवल श्रद्धा आदिक को सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं कहते क्योंकि ये सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि दोनों में पाये जाते हैं किन्तु उसके साथ समझदारों को सम्यक् विशेषण लगा देना चाहिये ताकि सम्यक्त्वी का ग्रहण हो जाये और मिथ्यात्वी का निराकरण हो जाये। अतः सम्यक् श्रद्धा, सम्यक्रुचि, सम्यक्प्रतीति, सम्यक्चरण, सम्यक्त्व के आरोपित लक्षण कहने में फिर कोई दोष नहीं रहता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो तत. ॥११८६॥

सूत्रार्थ—वास्तव में श्रद्धा-आदिक सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा-आदिक ही हैं क्योंकि मिथ्या-श्रद्धा-आदिक मिथ्या हैं। इसलिये वे वास्तव में श्रद्धा-आदिक ही नहीं हैं। अब इसी को विशेष स्पष्ट कहने के लिये शङ्का समाधान द्वारा पीसते हैं।

शङ्का

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः ॥११८७॥

शंका—तत्त्व रुचि श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धा का श्रद्धा मात्र यही एक लक्षण है। सम्यक् मिथ्या विशेषणों से युक्त वह दो प्रकार की है। वह वास्तव में कैसे है ?

भावार्थ—देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा जैसी सम्यग्दृष्टि को है वैसी मिथ्यादृष्टि को है फिर एक की श्रद्धा को सम्यक् श्रद्धा और एक की श्रद्धा को मिथ्या श्रद्धा ऐसा भेद क्यों किया जाता है ? नौ तत्त्वों की श्रद्धा दोनों को है। श्रद्धान, श्रद्धान एकसा।

समाधान सूत्र ११८८ से ११९१ तक ४

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥११८८॥

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनों में समव्याप्ति है। वास्तव में अप्राप्त पदार्थ में श्रद्धा गधे के सींगवत् है।

भावार्थ—आत्मा की स्वानुभूति होने पर जो स्व पर की श्रद्धा है वह तो सम्यक्श्रद्धा है क्योंकि इसने तो पदार्थ अनुभव में आने पर श्रद्धा की है। और अनुभव तो आया ही नहीं मात्र शास्त्र के पाठ के आधार पर श्रद्धा है वह तो बिना देखे की श्रद्धा गधे के सींगवत् शून्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या है। झूठी है। उसकी कुछ कीमत नहीं। वह सम्यक्त्व की लक्षण नहीं।

बिना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥११८६॥

सूत्रार्थ—स्वात्मानुभूति के बिना जो श्रद्धा आगम मात्र से है। वह तत्त्वार्थ के अनुसार होती हुवी भी वास्तव में श्रद्धा नहीं है क्योंकि अनुभव रूप से उसकी प्राप्ति नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा आगमानुकूल है और जैसा तत्त्वार्थ का स्वरूप आगम में लिखा है और है वैसा ही उस ने श्रद्धा भी की है किन्तु उस श्रद्धा की वहाँ तक कोई कीमत नहीं जहाँ तक कि स्वात्मानुभूति द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव गम्य न हो जाये।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥११९०॥

सूत्रार्थ—सत् असत् में विशेषता न होने से (तत्त्वों की) लब्धि उन्मत्तवत् है। वह उपलब्धि वास्तव में उपलब्धि नहीं है। वह तो शेष (अज्ञात) पदार्थों की अनुपलब्धि के समान है।

भावार्थ—जब तक पदार्थ स्वात्मानुभूति द्वारा अनुभव गम्य न हो जाय तब तक उसको वास्तव में सच्चे झूठे तत्त्व की पहचान नहीं होती क्योंकि तत्त्व की प्राप्ति आगम श्रद्धा से नहीं कही जाती किन्तु अनुभव से तत्त्व की प्राप्ति कही जाती है। अतः जिस प्रकार अन्य अज्ञात पदार्थों का ज्ञान नहीं है उसी प्रकार तत्त्वों की आगम से श्रद्धा होते हुवे भी वह नहीं जाने हुवे के समान ही है। उसको जानना या श्रद्धान ही नहीं कहते। यह सूत्र वही है जो श्रीमोक्षशास्त्र जी में है "सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्" भाव यह है कि मिथ्यादृष्टि को स्वात्मानुभूति बिना सत् और असत् का अन्तर ज्ञात नहीं है और उस का तत्त्वों के स्वरूप को कहना इच्छानुसार पागलवत् बकवास है। आगमज्ञान तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यादृष्टि ११ अंग तक करता है पर अनुभव बिना शून्य है। सम्यग्दृष्टि अल्पश्रुती की भी श्रद्धा सच्ची श्रद्धा है।

तनोऽस्ति यौगिकी रुढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणं ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात् सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ।।११९१।।

सूत्रार्थ—इसलिये श्रद्धा सम्यक्त्व का लक्षण है यह यौगिक (शास्त्रीय) रुढि है। यह कथन पदार्थ रूप से तब अविरुद्ध है जब उसे स्वात्मानुभूति से युक्त माना जावे।

सूत्र ११७८ से ११९१ तक का सार—जहाँ भी शास्त्रों में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वं' कहा है उसका अर्थ यही है कि वह स्वात्मानुभूति सहित सम्यग्दृष्टि का लक्षण है । मिथ्यादृष्टि के श्रद्धान को तो आगम में श्रद्धान ही नहीं कहा है क्योंकि उसके तत्त्वार्थ में सत् असत् का निर्णय नहीं है और उसे अनुभव रूप से तत्त्वार्थ की प्राप्ति नहीं है।

सम्यक्त्व का लक्षण श्रद्धा समाप्त हुवा

चौथा अवान्तर अधिकार

सम्यक्त्व के लक्षण प्रशम-संवेग (निर्वेद)-अनुकम्पा-आस्तिक्य

सूत्र ११९२ से १२३४ तक ४३

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ।।११९२।।

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि के प्रशम-आदिक जो अन्य गुण (लक्षण) प्रसिद्ध हैं। बहिर्दृष्टी से यथायोग्य वे भी सम्यक्त्व के लक्षण हैं (सहचर लक्षण हैं)।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के प्रशम आदि वास्तव में चारित्र गुण की विकल्पात्मक शुभ भाव रूप पर्याय हैं जो पुण्य तत्त्व है। उनको अविनाभाव सम्बन्ध के कारण यहाँ सम्यक्त्व कहा है; यही बहिर्दृष्टि का अर्थ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशम का निरूपण सूत्र ११९३ से ११९८ तक ६

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥११९३॥

सूत्रार्थ--उन में पहला प्रशम नाम है, फिर संवेग गुण है। फिर अनुकम्पा तथा आस्तिक्य है। उन के लक्षण को क्रम से कहूंगा। वह इस प्रकार हैः—

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥११९४॥

सूत्रार्थ—(पंचेन्द्रिय) विषयों में और असंख्यात लोक मात्र तीव्र भावक्रोध-आदिकों में स्वरूप से (स्वतः स्वभाव से) शिथिल मन का होना प्रशम है।

भावार्थ—सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय ही अनन्तानुबंधी कषायों का नाश हो जाता है ऐसा अविनाभाव संबंध है। पंचेन्द्रिय विषयों में तथा क्रोधादिक में तीव्रता अनन्तानुबन्धी रूप ही है। उस के अभाव को ही प्रशम कहते हैं। सम्यग्दृष्टि का मन कषायों में स्वतः ढीला हो जाता है। इस ढीलेपन का नाम प्रशम है। अब इसको दृष्टान्त से समझाते हैं।

सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥११९५॥

सूत्रार्थ—अथवा तत्काल किया है अपराध जिन्होंने ऐसे जीवों पर कभी भी उनके बध-आदि विकार के लिये बुद्धि (भाव) का न होना प्रशम माना गया है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि का कोई कितना भी बुरा करने का भाव करे यहाँ तक कि उसे मारने या उस का धनादि नष्ट करने के लिये प्रवृत्त होवे तो भी उसको स्वभाव से ही उस के जान से मारने का भाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कभी उत्पन्न नहीं होता । उसके प्रति प्रथम तो कषाय ही उत्पन्न न होगी यदि होगी तो बहुत हलकी सी और वह यह तुरन्त समझ लेता है कि यह मेरी स्वरूप अस्थिरता की निर्बलता के कारण है । इसके कारण नहीं । अब इस प्रशम का वास्तविक कारण बताते हैं ।

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥११९६॥

सूत्रार्थ—उस (प्रशम) में कारण अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय का अभाव है और शेष (अप्रत्ययाख्यानादि) कषायों का अंश रूप से मन्द उदय भी वास्तव में कारण है । यहाँ भाव और द्रव्य रूप दोनों प्रकार की कषायों का ग्रहण है ।

आरम्भादिक्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तःशुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥११९७॥

सूत्रार्थ—आरम्भ-आदि क्रिया उस (सम्यग्दृष्टी) के दैव योग से अनिच्छा पूर्वक होती है । अन्तरंग शुद्धि की प्रसिद्धि होने से वह (क्रिया) प्रशम के नाश के लिये कारण नहीं है ।

भावार्थ—कोई यह शङ्का करे कि सम्यग्दृष्टि व्यापार करता है । मुकदमा भी होता है । उसके राज-पाट भी होता है । स्त्री, पुत्र, नौकर, चाकर भी होते हैं । उसमें कषाय करते समय तो प्रशम का नाश होता होगा तो कहते हैं कि उनमें राग तो उनको होता है जो उन क्रियाओं के कर्ताभोक्ता है । सम्यग्दृष्टि किसी कर्मज क्रिया का करता भोक्ता नहीं है । वह समझता है कि यह सब पर द्रव्यों का परिणमन अपनी २ योग्यता से हो रहा है अथवा इनमें इनके अनुकूल निमित्त कारण में कर्मोदय है । अतः वे सब क्रियाएं उस के अनिच्छापूर्वक होती हैं । यही कारण है कि उसको अन्तरंग शुद्धि का नाश नहीं हो पाता और प्रशम गुण हर संयोग में बना ही रहता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमं मन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥११९८॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व से अविनाभावी प्रशम परम गुण है। उस (सम्यक्त्व) के अभाव से अन्यत्र (मिथ्यादृष्टि में) प्रशम भी आभास है ऐसा मैं मानता हूं।

भावार्थ—श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव कहते हैं कि देखने में तो बाहर से मिथ्यादृष्टि के भी इतना प्रशम होता है कि कोई शरीर के खण्ड २ भी कर दे तो क्लेश न करे और रंच मात्र क्रोध न करे पर सम्यक्त्व तथा आत्मानुभूति के अभाव के कारण मैं उसे प्रशम नहीं किंतु प्रशमाभास मानता हूं। हाँ सम्यग्दृष्टि के प्रशम पर सम्यग्दर्शन का आरोप किया जाये तो मुझे स्वीकार है अर्थात् प्रशम सम्यग्दृष्टि का बाह्य लक्षण है मिथ्यादृष्टि का नहीं।

सम्यक्त्व का लक्षण 'प्रशम' समाप्त हुवा

संवेग का निरूपण सूत्र ११९९ से १२१३ तक १५

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रतीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥११९९॥

सूत्रार्थ—आत्मा के धर्म में (वीतराग भाव में) और धर्म के फल में (अतीन्द्रिय सुख में) परम उत्साह या सर्धामियों में अनुराग अथवा परमेष्ठियों में प्रतीति संवेग है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि की स्वभाव से शुद्ध भाव में रुचि होती है। शुद्ध भाव के फल अतीन्द्रिय सुख में रुचि होती है तथा शुद्धभाव धारी चौथे से सिद्ध तक के सब जीवों में प्रीति होती है। यह संवेग है। नास्ति से यह भी सिद्ध हो गया कि अधर्म में (शुभाशुभ भाव में), अधर्म के फल रूप इन्द्रिय सुख दुःख में तथा एकान्त शुभाशुभ में प्रवृत्ति करने वाले अर्धामियों में उसकी प्रतीति नहीं होती। इसी को नास्ति से निर्वेद कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म और धर्म के फल का स्वरूप

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥१२००॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व मात्र है स्वरूप जिसका (श्रद्धा) और शुद्ध आत्मा का अनुभव (चारित्र) धर्म है। उसका फल वह सुख है जो अतीन्द्रिय, अविनाशी, और कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाला है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि स्वप्न में भी शुभ भाव को धर्म नहीं समझता और न शुभ भाव के फल ऐन्द्रिय सुख को चाहता है। किन्तु वह वस्तु स्वरूप का परिज्ञाता है। मोह क्षोभ से रहित आत्मा के शुद्ध भाव को ही धर्म समझता है। उस शुद्ध भाव का नाम ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र है। वह कभी इन विकल्पों को सम्यक्त्व या शुभ क्रियाओं या शुभ विकल्पों को चारित्र नहीं मानता। तथा वह यह भी जानता है कि शुद्ध भाव का फल जो अतीन्द्रिय सुख है वह आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख है। वही वास्तव में सच्चा सुख है जो आत्मा को तृप्त कर सकता है। यह ऐन्द्रिय सुख तो तृष्णा उत्पादक है, हेय है।

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥१२०१॥

सूत्रार्थ—इधर (अर्थात् साधर्मियों में और परमेष्ठियों में) जो राग है वह उन के गुणों में अनुराग के कारण है। अतद्गुण में (अर्थात् जिन में वे गुण नहीं हैं ऐसे अन्य जीवों में अर्थात् अधर्मियों में) अनुराग नहीं है क्योंकि (सम्यग्दृष्टि के) उस (अतद्गुण अर्थात् अधर्म) के फल की इच्छा नहीं है।

भावार्थ—इसमें अस्ति नास्ति से दोनों बातें दिखयाई गई हैं कि सम्यग्दृष्टि का सधर्मियों और परमेष्ठियों में राग क्यों है क्योंकि उसे शुद्ध भाव रूप धर्म की प्रतीति है और वे उसके धारी हैं। तथा उसको अन्य जीवों में प्रतीति क्यों नहीं है इसलिये कि उसे शुभाशुभ भाव की तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके फल इन्द्रिय सुख दुःख से प्रतीति नहीं है और वे जीव उस के धारण करने वाले हैं। यह तो स्वतः नियम है कि जो जैसा होता है उस की उसी भाव में और उसी भाव वालों में रुचि होती है। व्यसनी की व्यसनी में और धर्मात्मा की धर्मात्मा में।

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥१२०२॥

सूत्रार्थ—यहाँ अनुराग शब्द से अभिलाषा नहीं कहा गया है किन्तु अधर्म से निवृत्ति अथवा अधर्म के फल से भी निवृत्ति होकर जो शेष रहता है वह अनुराग शब्द का अर्थ है।

भावार्थ—यहाँ आचार्य देव ने एक खास बात स्पष्ट की है जिस की संसारी जीवों को शल्य रहा करती है। सम्यग्दृष्टि जीव को किसी जन्त्र मन्त्र औषधि लौकिक लाभ या लौकिक सुख की इच्छा नहीं है कि जिस के कारण वह सच्चे त्यागियों मुनियों आचार्यों या परमेष्ठियों से अनुराग करता है किन्तु मात्र शुद्ध भाव रूप धर्म उसे प्रिय है और वे उस के धारी हैं बस यह अनुराग शब्द का वाच्य है और कुछ नहीं तथा यह संवेग गुण इस बात का भी सूचक है कि अधर्म, अधर्म के फल और अधर्म के धारियों में उसकी रुचि नहीं है।

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥१२०३॥

सूत्रार्थ—अनुराग शब्द की जिस समय अर्थ से विधि वाच्य है तो प्राप्ति या उपलब्धि अर्थ है क्योंकि ये शब्द एकार्थवाचक हैं।

भावार्थ—संवेग या अनुराग का अर्थ अभिलाषा या इच्छा नहीं है। अभिलाषा या इच्छा तो किसी प्रकार की सम्यग्दृष्टि के होती ही नहीं है किन्तु संवेग या अनुराग का अर्थ प्राप्ति अथवा उपलब्धि है।

न चाशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥१२०४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि (सम्यग्दृष्टि की) केवल भोगों में ही अभिलाषनिषिद्ध है किन्तु भोगाभिलाष के समान शुद्धोपलब्धि मात्र में भी अभिलाषा नहीं है अर्थात् सम्यग्दृष्टि के किसी प्रकार की भी अभिलाषा नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हैं।

अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात्।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥१२०५॥

सूत्रार्थ—वास्तव में सब अभिलाष अज्ञान है क्योंकि सम्यग्दर्शन से विपरीत है। न्याय से भी तत्त्वार्थ को अप्राप्त जीव ही प्राप्ति के लिये इच्छुक है। तत्त्वार्थ प्राप्त नहीं।

भावार्थ—यहाँ कोई शङ्का करे कि सम्यग्दृष्टि के लौकिक किसी भी वस्तु या भाव या संयोग की अभिलाषा नहीं है यह तो ठीक पर क्या उसके आत्मा की प्राप्ति या मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं है तो कहते हैं कि नहीं है। उसको युक्ति से सिद्ध करते हैं कि अभिलाषा तो उस चीज की हुवा करती है जिसकी कि प्राप्ति न हुवी हो। सम्यग्दृष्टि को तो आत्मप्रत्यक्ष हो गया है। शुद्ध भाव विद्यमान है और उसका फल अवश्यंभावी मोक्ष अर्थात् अतीन्द्रिय सुख है क्योंकि शुद्धभाव और अतीन्द्रिय सुख उसका अविनाभाव फल है। फिर भला जो चीज उसे प्राप्त ही है उसकी अभिलाषा कैसी ? वह तो जानता है कि मैं मुक्त स्वरूप ही हूं। ये जो पर्याय पर में अटक रही है बस यही मेरे पुरुषार्थ की निर्बलता है। जहाँ यह पर्याय स्वरूप में स्थित हुवी और मैं मुक्त हुवा। दूसरे वह यह भी जानता है कि कोई भी इच्छा करना अज्ञान-भाव अर्थात् मूढ़ता है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है और संयोग वियोग स्वतः अपने कारण से या साताअसाता के निमित्ताधीन है। यह इच्छा रूप राग निष्फल ही है। इसकी क्रियाकारित्व कुछ नहीं है। यह केवल मूर्खता की सूचक है। इस कारण भी सम्यग्दृष्टि को पर इच्छा नहीं होती। इच्छा की पूर्ति अपने आधीन नहीं है इसको वह भली भाँति जानता है सोई कहते हैं:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥१२०६॥

सूत्रार्थ—सब अभिलाषा मिथ्या है क्योंकि केवल मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है क्योंकि अभिलाषा प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रयोजन की सम्पूर्ण क्रिया की सिद्धि में समर्थ नहीं है ।

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥१२०७॥

सूत्रार्थ—कहीं पर उस (अभिलाष) के सद्भाव में भी इष्टसिद्धि नहीं है क्योंकि उसके कारण (कर्म उदय) का सद्भाव नहीं है । और कहीं पर अभिलाष के अभाव में भी अपने इष्ट की सिद्धि है क्योंकि उस के कारण (कर्मोदय) का सद्भाव है ।

यशः श्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि बिना पुण्योदयात्सतः ॥१२०८॥

सूत्रार्थ—यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र-आदि सब जगत् चाहता है किन्तु इस (जगत) के अभिलाष होने पर भी लाभ नहीं है क्योंकि पुण्य के उदय का सद्भाव नहीं है ।

जरामृत्युदरिद्रादि न हि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥१२०९॥

सूत्रार्थ—बुढ़ापा, मृत्यु, दरिद्रता-आदि जगत् नहीं चाहता है (पर) उसका संयोग बलात् है क्योंकि वहाँ अशुभ (कर्म) के उदय का सद्भाव है ।

भावार्थ—कुछ लोगों का आज ऐसा भी कहना है कि पर वस्तु का संयोग कर्माधीन नहीं है किन्तु राज समाज व्यवस्था आधीन है । उपर्युक्त सूत्र उनकी मिथ्या मान्यता के स्पष्ट सूचक हैं । वास्तव में तो प्रत्येक सामग्री अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की स्वयं उपादान कारण की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग्यता आधीन है किन्तु निमित्त की दृष्टि से साताअसाता कर्मोदय आधीन है। राज समाज व्यवस्था तो न निमित्त कारण है न उपादान। वह तो कोई वस्तु ही नहीं मात्र अज्ञानियों की कल्पनाओं का नाम राज समाज व्यवस्था है। अब इसी संवेग का नास्ति से विवेचन करते हैं।

निर्वेद का निरूपण सूत्र १२१०से १२१३ तक ४

संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदश्च निषेधनात्।
स्याद्विवक्षावशाद् द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥१२१०॥

सूत्रार्थ—संवेग विधिरूप है और निर्वेद निषेधरूप है। विवक्षा वश से (संवेग और निर्वेद) में द्वैत है किन्तु उन दोनों में पदार्थ रूप से पदार्थान्तर (भिन्न २ पदार्थपना) नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही वस्तु हैं) अस्ति से संवेग, नास्ति से निर्वेद।

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा।
स संवेगोऽथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥१२११॥

सूत्रार्थ—सब अभिलाष का त्याग निर्वेद है। और निर्वेद के इस लक्षण से वह संवेग अथवा धर्म ही बैठता है क्योंकि (संवेग धर्म को धारण करने वाला) धर्मात्मा अभिलाष सहित नहीं है। अब यह बताते हैं कि मिथ्यादृष्टि के कभी संवेग या निर्वेद नहीं होता चाहे वह कोई भी हो।

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः ॥१२१२॥

सूत्रार्थ—यहाँ मिथ्यादृष्टि का केवल व्यवहार क्रिया मात्र वास्तव में धर्म नहीं है क्योंकि (उसके) नित्य रागादि भाव का सद्भाव पाया जाता है उलटा वह (क्रिया रूप धर्म) अधर्म ही है।

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात् क्वचिदरागवान्।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥१२१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—मिथ्यादृष्टि नित्य रागी होता है, वह कभी भी अरागी नहीं होता। सम्यग्दृष्टी नित्य रागरहित होता है, वह कभी भी सरागी नहीं होता। अस्ति नास्ति। राग का अर्थ मोह भाव है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण संवेग या निर्वेद समाप्त हुवा

अनुकम्पा का निरूपण सूत्र १२१४ से १२१६ तक ६

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥१२१४॥

सूत्रार्थ—अनुकम्पा कृपा जाननी चाहिये अर्थात् सब जीवों में अनुग्रह, मैत्रीभाव, मध्यस्थता, निशल्यता। वह सब जीवों में वैरभाव छोड़ने से होती है।

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं बिना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥१२१५॥

सूत्रार्थ—उसमें केवल दर्शनमोह का अनुदय कारण कहा गया है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान के बिना वैरभाव कहीं भी नहीं होता।

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥१२१६॥

सूत्रार्थ– जो पर से स्व का अथवा स्व से पर जीवों का कुछ भी सुख-दुःख-आदि, मृत्यु अथवा जीवन चाहे, वह मिथ्या है। यहाँ श्रीसमयसार जी के बंध अधिकार वाला भाव है।

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥१२१७॥

सूत्रार्थ—जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि, शल्यवान् है। और अज्ञान से दूसरे को मारने का इच्छुक होता हुवा भी मारने के लिये समर्थ नहीं है।

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥१२१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जो सब जीवों में समता है, वह पर में अनुकम्पा है। वास्तव में स्व अनुकम्पा तो काँटे के समान शल्य के छोड़ने से होती है। मिथ्यात्व, माया, निदान को शल्य कहते हैं। इनको छोड़ना ही स्वदया है। यही आत्मा को सब से अधिक दुःख देते हैं।

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥१२१९॥

सूत्रार्थ– राग-आदि अशुद्ध भावों के सद्भाव में निश्चय से बंध ही है। उन (रागादि भावों) के असद्भाव में बन्ध नहीं है। इसलिये अपनो आत्मा पर कृपा करनी चाहिये।

भावार्थ (सूत्र १२१४ से १२१९ तक)—वस्तु स्वभाव ऐसा हैं कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव में स्थित रहता हुवा ही प्रति समय अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की योग्यता से परिणमन किया करता है। अतः एक द्रव्य दूसरे में कुछ नहीं कर सकता। तथा द्रव्यों का परस्पर जो संयोग वियोग है वह अपने २ कर्माधीन है। यह निमित्त कारण की अपेक्षा वस्तु का कथन है। जब ऐसा वस्तु स्वभाव है तो दूसरा प्राणी हमारे जीने मरने सुख दुःख में या हम उसके जीने मरने सुख दुःख में न उपादान कारण हैं न निमित्त कारण हैं। ऐसे वस्तु स्वभाव को ज्ञानी जानते हैं। अतः उनका किसी पर बैरभाव नहीं होता किन्तु मध्यस्थ भाव ही रहता है। वस्तु स्वभाव को नहीं जानने वाले अज्ञानियों की ऐसी श्रद्धा है कि "इसने ही इस का ऐसा किया है" अतः यह कोरा बैरभाव हैं और कुछ नहीं और इसमें केवल अज्ञानता कारण है। (२) ज्ञानी यह भी जानता है कि अपना बुरा अपने रागभाव से है और अपना भला अपने शुद्ध भाव से है। अतः वह राग भाव को छोड़कर शुद्ध भाव में वर्तता है। बस यही वास्तव में सच्ची स्वकृपा (अनुकम्पा) है। परकृपा तो कोई कर ही नहीं सकता। परकृपा को श्रीप्रवचनसार सूत्र ८५ में मिथ्याभाव कहा है। वहाँ से ही ग्रन्थकार ने यह भाव लिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। ज्ञानी पर की कृपा करते हैं यह मात्र उपचार कथन है। इसमें सत्यता कुछ नहीं।

आस्तिक्य का निरूपण सूत्र १२२० से १२३४ तक १५

आस्तिक्य तत्त्वसद्भावे स्वतःसिद्धे विनिश्चितिः।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चास्त्यादिमतिश्चितः ॥१२२०॥

सूत्रार्थ—स्वतः सिद्ध तत्त्व के सद्भाव में विनिश्चय और धर्म में, धर्म के कारण में, और धर्म के फल में आत्मा की "है" रूप बुद्धि आस्तिक्य है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि को ऐसा निश्चय है कि छहों द्रव्य स्वतः सिद्ध हैं। अनादि अनन्त शाश्वत हैं। उनका स्वभाव या विभाव परिणमन भी स्वतः निरपेक्ष उन के ही आधीन है। मेरा पर से कुछ लगाव नहीं है। शुभ अशुभ भाव अधर्म हैं। मात्र शुद्ध भाव धर्म है वह सम्यक्त्व और चारित्र रूप है। उस शुद्ध भाव का कारण मात्र अपनी सामान्य शुद्ध आत्मा का आश्रय है। उसका फल अतीन्द्रिय सुख है। इस प्रकार की "है" रूप दृढ़ श्रद्धा का होना ही सम्यक्त्वी का आस्तिक्य गुण है। अब स्वयं श्रीअमृतचन्द्र जी इसका खुलासा करते हैं :—

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोऽप्यमूर्तिमान्।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥१२२१॥

सूत्रार्थ—आत्मा है। जीव उसका नाम है। जो स्वतः सिद्ध, अमूर्तिक और चेतन है। और अजीव तो जितना भी अचेतन है वह है।

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥१२२२॥

सूत्रार्थ—आत्मा अनादि से कार्मण स्वरूप कर्मों के द्वारा बद्ध है। अज्ञानी है और वास्तव में उनका कर्ता और भोक्ता है। उनके नाश से मोक्ष पाने वाला होता है (यह निमित्त की अपेक्षा कथन है)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्ति पुण्यं च पाप च तद्धेतुस्तत्फलं च वै।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥१२२३॥

सूत्रार्थ—निश्चय से पुण्य है और पाप है। उनका कारण है और उनका फल भी है तथा आस्रव-आदिक उस संसारी के निरन्तर है।

भावार्थ—६८ कर्म प्रकृतियां पुण्य रूप हैं। उनका कारण जीव का शुभ भाव है। उसका फल इष्टसंयोग आदि है। १०० पापप्रकृतियां हैं। उनका कारण जीव का अशुभ भाव है। इसका फल अनिष्टसंयोग आदि है। जीव का शुभाशुभ भाव आस्रव है। उसके निमित्त से प्रकृति-बंध आदि चार प्रकार का बंध है। जीव का शुद्ध भाव संवर निर्जरा है उसका फल आगामी कर्मास्रव और बंध का अभाव तथा पूर्वबद्ध की निर्जरा है। जीव का पूर्ण शुद्धभाव तथा द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म का पूर्ण अभाव मोक्ष है। ऐसी उसे आस्तिक्य की श्रद्धा है।

अस्त्येव पर्ययादेशाद् बन्धो मोक्षश्च तत्फलम्।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥१२२४॥

सूत्रार्थ—पर्याय के कथन से (विशेष दृष्टि से) बन्ध है, मोक्ष है और उसका फल (अतीन्द्रियसुख) है। और शुद्ध नय के कथन से (सामान्य दृष्टि से) सब ही सदा शुद्ध हैं। इसका खुलासा चौथी पुस्तक में हो चुका है।

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥१२२५॥

सूत्रार्थ—उन में यह जीव नाम का पदार्थ—जो स्वसंवेद्य है, चेतनस्वरूप है, वह तो मैं हूं (उपादेय हूं) और अन्य जो ये पौद्गलिक रागादिक हैं ये 'हेय' हैं।

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम्।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥१२२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—इत्यादि अनादि जीवादि जो भी वस्तु समूह है वह सब निश्चय व्यवहार से सत् रूप है। उसमें वैसी ही बुद्धि का होना आस्तिक्य गुण है।

सम्यक्त्वेनाविनाभूतं स्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यनाम सम्यक् तत् मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥१२२७॥

सूत्रार्थ—जो सम्यक्त्व से अविनाभावी है और स्वानुभूति जिस का एक लक्षण है वह आस्तिक्य सम्यक् (सच्चा) है। उससे विपरीत आस्तिक्य मिथ्या (झूठा) है।

भावार्थ—आगम के आधार से किसी २ मिथ्यादृष्टि में भी यह आस्तिक्य पाया जाता है पर स्वात्मानुभूति न होने से वह आस्तिक्य गधे के सींगवत् मिथ्या है। आस्तिक्याभास है। जो सम्यक्त्व और स्वात्मानुभूति से अविनाभावी है वही सच्चा आस्तिक्य गुण है और वही सम्यक्त्व का सहचर लक्षण है क्योंकि बिना आत्मप्रत्यक्ष हुवे उसकी आस्तिक्यता तो कल्पना मात्र है।

शङ्का सूत्र १२२८ से १२२९ तक २

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥१२२८॥

सूत्रार्थ—शङ्का-वास्तव में पदार्थरूप से एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है। शेष चार ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नहीं है। फिर सम्यग्दृष्टि के इन सब बातों का आस्तिक्य कैसे है ?

यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥१२२९॥

शङ्का चालू—अथवा इन्द्रिय जन्य अपने सुखादि (साता असाता जन्य सुख दुःख) एकदेश प्रत्यक्ष है। फिर स्वसंवेदन प्रत्येक्ष रूप आस्तिक्य वास्तविक प्रत्यक्ष कैसे है ? अर्थात् शिष्य सुख दुःख को तो प्रत्यक्ष मानता है पर स्वात्मानुभूति रूप आत्मप्रत्यक्ष नहीं मानता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान सूत्र १२३० से १२३४ तक ५

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥१२३०॥

सूत्रार्थ—ठीक है। आदि के ज्ञान (मति-श्रुत) पर के जानने में परोक्ष हैं किन्तु दर्शनमोह के उपशम-आदि से स्वात्मानुभूति में प्रत्यक्ष हैं (यह विषय तीसरी पुस्तक में स्पष्ट हो चुका है)।

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥१२३१॥

सूत्रार्थ—'स्वात्मानुभूति' मात्र आस्तिक्य परमगुण है। चाहे पर द्रव्य में जानना हो या न हो क्योंकि वह तो पर द्रव्य ही है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के मति श्रुत ज्ञान द्वारा आत्मप्रत्यक्ष तो हो ही जाता है इसलिये उसे स्व के आस्तिक्य का तो प्रत्यक्ष है। और उस से जो भिन्न है वह पर है इस प्रकार पर के आस्तिक्य का भी निश्चय है। पर के विशेष भेदों की या उसके स्वरूप की जानकारी केवली को है और उसे नहीं है। इस से आस्तिक्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उस की जानकारी उसे हो या न हो किन्तु यह तो वह जानता ही है कि ये पर हैं। बस उनकी पर रूप से श्रद्धा होना ही उनका आस्तिक्य है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥१२३२॥

सूत्रार्थ—और वहाँ जीवादि परवस्तु के परोक्ष होने पर भी इस सम्यग्दृष्टी आत्मा के गाढ प्रतीति है।

न तथास्ति प्रतीतिर्वा तस्मिन् मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥१२३३॥

सूत्रार्थ—जैसी प्रतीति इस सम्यग्दृष्टि आत्मा के है वैसी प्रतीति उस मिथ्यादृष्टि के प्रकट नहीं है क्योंकि उसमें दर्शनमोह के उदय से भ्रान्ति का सद्भाव निरन्तर पाया जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥१२३४॥

सूत्रार्थ—इसलिये यह भले प्रकार युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध है कि सम्यक्त्व से अविनाभावी आस्तिक्य महान् गुण है [सम्यक्त्व और स्वात्मानुभूति के बिना आस्तिक्याभास है। मिथ्या है]।

भावार्थ (सूत्र १२२० से १२३४ तक)—जिस प्रकार केवली भगवान् में वस्तु स्वभाव का प्रत्यक्ष है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को आगम के बल से वस्तु स्वभाव अनुभव प्रत्यक्ष है। उसे स्व का, पर का, स्वतः सिद्ध छः द्रव्यों का, जीव के अनादि से कर्ता भोक्तापने का, उसके फल-स्वरूप चार गतियों में भ्रमण का, फिर स्वपर का भेदविज्ञान करके सामान्य के आश्रय से शुद्धभाव रूप सम्यक्त्व प्रगट करने का, फिर उस सामान्य में स्थिरता करके चारित्र प्रगट करने का, उसके फल स्वरूप यहां एकदेश अतीन्द्रिय सुख का, मोक्ष में पूर्ण अतीन्द्रिय सुख का पूर्ण विश्वास है। यही उस का आस्तिक्य गुण है। उसपर शिष्य पूछता है कि प्रत्यक्ष तो एक केवल ज्ञान है और उसी में ये बातें झलकती हैं। सम्यग्दृष्टि के तो मति श्रुत है। उसे इन सब बातों का कैसे प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है तो उत्तर देते हैं कि स्वात्मानुभूति में मतिश्रुत प्रत्यक्ष है। आत्मप्रत्यक्ष होने से तो उसे आत्मा की श्रद्धा है और उससे भिन्न सब पर है इस प्रकार पर की श्रद्धा है। तथा सम्यक्त्व के कारण उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होने से वह प्रत्येक पदार्थ को आगमचक्षु से देखता है। अतः उसे केवली, गणधरवत् सब कुछ का आस्तिक्य है। (श्रीप्रवचनसार गाथा २३४, २३५) यह सम्यग्दृष्टि का आस्तिक्य गुण है।

आगम प्रमाण तथा अगले कथन की भूमिका

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥

सूत्रार्थ—संवेग[1], निर्वेद[2], निन्दा[3], गर्हा[4], उपशम[5], भक्ति[6] वात्सल्य[7], और अनुकम्पा[8] ये सम्यक्त्व के आठ गुण हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ (A)—श्री अमृतचन्द्र जी कहते हैं कि यद्यपि आगम में सम्यक्त्व के उपर्युक्त आठ गुण लिखे हैं पर वास्तव में ये चार ही हैं। वह इस प्रकार कि जिसको अस्ति से संवेग कहते हैं उसी को नास्ति से निर्वेद कहते हैं जैसे धर्म के कारण में, धर्म के फल में और धर्मधारी साधर्मियों तथा परमेष्ठियों में अनुराग संवेग है तो अधर्म में, अधर्म के कारण में, अधर्म के फल में, अधर्मियों में इच्छा का अभाव निर्वेद है। इस प्रकार ये दो नाम से एक ही वस्तु है। दूसरी बात यह है कि कोई पूछे कि सम्यक्त्व का लक्षण क्या है तो उत्तर है 'संवेग'। कोई पूछे कि संवेग का लक्षण क्या है अर्थात् संवेग किसे कहते हैं तो उत्तर है अरहंतादि की भक्ति और वात्सल्यता को। अतः यह भक्ति और वात्सल्यता संवेग के लक्षण है और सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं। जो लक्षण का लक्षण हो उसे उपलक्षण कहते हैं। अतः भक्ति और वात्सल्यता संवेग के ही पेट में आ जाने से भिन्न वस्तु नहीं रहे। इस प्रकार संवेग, निर्वेद, भक्ति और वात्सल्यता चारों संवेग ही हैं।

(B) प्रशम में मानादि कषायें फीके पड़ जाते हैं। अतः फिर सम्यग्दृष्टि के मुख से अपनी प्रशंसा का शब्द नहीं निकलता किन्तु निन्दा गर्हा ही निकलती है। उसकी दृष्टि सामान्य स्वभाव पर है। वह जानता है कि आत्मा का स्वभाव अनन्त चतुष्टय है और मेरी पर्याय में उसका लोप है। उसके लोप का कारण अर्थात् उसकी प्रगटता को इन रागादि कषाय भावों ने रोका हुवा है। ये अत्यन्त हेय, निन्दनीय और घृणामय हैं। बन्ध के करने वाले हैं तथा मेरे सुख को रोके हुवे हैं। इस प्रकार अपनी और उन रागादिक की आलोचना निन्दा है तथा उनके त्याग का निरन्तर प्रयत्न गर्हा है। जो रागादिक का त्याग है वही तो प्रशम है। प्रशम अस्ति से है। रागादिक का त्याग नास्ति से है। या यूं कहिये कि प्रशम सम्यक्त्व का लक्षण है तथा निन्दा गर्हा प्रशम का लक्षण होने से सम्यक्त्व का उपलक्षण है। इस प्रकार निन्दा गर्हा प्रशम के पेट में आ जाने से तीनों एक ही हैं। इसप्रकार ये सम्यक्त्व के आठ गुण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगम में कहे जाने पर भी इन्हीं चार के अन्तर्भूत हैं। कुछ विशेष वस्तु नहीं है। सोई कहते हैं:—

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥१२३५॥

सूत्रार्थ—उक्त गाथा सूत्र के अर्थ में भी प्रशम-आदि चारों ही कहे गये हैं, अधिक कुछ नहीं क्योंकि यहां लक्षण के उपलक्षण हैं।

सम्यक्त्व के उपलक्षण भक्ति, वात्सल्यता
सूत्र १२३६ से १२३९ तक ४

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथास्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥१२३६॥

सूत्रार्थ—जो उपलक्षण है वह लक्षण का भी लक्षण है। वह इस प्रकार कि जो उत्तर का (लक्षण का) लक्षण है वह आदि-लक्ष्य का उपलक्षण है।

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥१२३७॥

सूत्रार्थ—जैसे सम्यक्त्व भाव का संवेगगुण लक्षण है वह (संवेग गुण) अर्हन्तों की भक्ति अथवा वात्सल्य से उपलक्षित किया जाता है।

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥१२३८॥

सूत्रार्थ—उसमें (दर्शन मोह के) उपशम हो जाने से वचन शरीर और मन की उद्धतता न होना भक्ति है। और उन परमेष्ठियों के गुणों का अपने आत्मा में उत्कर्ष करने के लिये उद्यमवान् मन वात्सल्यता है।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात् संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥१२३९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—भक्ति या वात्सल्य संवेग के बिना नहीं होते। वह संवेग सम्यग्दर्शन का लक्षण है और ये दोनों सम्यक्त्व के उपलक्षण हैं।

सम्यक्त्व के उपलक्षण गर्हा, निन्दा सूत्र १२४० से १२४४ तक ५

निन्दा १२४० से १२४१ तक

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥१२४०॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोह के उदय के अभाव से प्रसिद्ध प्रशम गुण है। उसको प्रगट करने वाला बाह्य रूप से निन्दा और गर्हा है।

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नापेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥१२४१॥

सूत्रार्थ – उस निन्दा गर्हा में निन्दा यह है कि कठिनता से दूर करने योग्य रागादि दुष्ट कर्मों के होने पर पश्चात्तापकर बन्ध होता है जो बन्ध न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षणीय है।

भावार्थ—अपेक्षणीय तो इस लिये नहीं है कि ज्ञानी बन्ध को नहीं चाहता और वह बन्ध का कर्ता नहीं है और उपेक्षणीय इसलिये नहीं है कि वह बन्धवस्तु स्वभावसे होता जरूर है। पश्चातापकर इसलिये है कि जब तक वह बन्ध रहेगा तबतक जीव स्वाभाविक पूर्ण सुख को न पा सकेगा। कर्मों की शक्ति का ऐसा विचार करना भी निन्दा है।

गर्हा सूत्र १२४२-४३-४४

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥१२४२॥

सूत्रार्थ—गर्हा उस रागादि का परित्याग है जो पंचपरमेष्ठी और अपनी आत्मा की साक्षी पूर्वक प्रमाद रहित होकर निश्चय से शक्ति अनुसार कर्म के क्षय के लिये किया जाता है।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥१२४३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—वास्तव में यह दोनों सम्यक्त्व के उपलक्षण भले प्रकार कहे गये हैं। क्योंकि प्रशम गुण के समान इन दोनों में कषायों के अनुद्रेक (उपशम-शमन-ढ़ीलेपड़ना) की अपेक्षा से कोई विशेषता नहीं है।

शेषमुक्तं यथाम्नायाज्ज्ञातंव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥१२४४॥

सूत्रार्थ—शेष कथन आम्नाय अनुसार परमागम से जानना चाहिये क्योंकि आगम रूपी समुद्र के पार को पाने के लिये मेरे जैसा पुरुष कैसे समर्थ हो सकता है।

भावार्थ—यद्यपि श्रीअमृतचन्द्र जी ने सारे आगम रूपी समुद्र का दोहन करके ऐसा अलौकिक शास्त्र बनाया है। इतना स्पष्टीकरण और है कहां ? फिर भी अपनी निन्दा सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। तदनुसार कहते हैं कि मुझ जैसा व्यक्ति क्या आगम का पार पा सकता है ? कुछ नहीं। बतलाईये हमारे गुरुदेव जो साक्षात छठे सातवें गुणस्थान के गुरु थे वे तो अपने को यह कहते हैं अब हम जैसे तुच्छ टीकाकार अपने को क्या कहें ? वास्तव में वस्तु स्वभाव केवली गम्य है। छद्मस्थ का ज्ञान तो समुद्र में बिन्दुवत है यह क्षायोपशमिक ज्ञान अत्यन्त हेय है चौथी पुस्तक में कह ही आये हैं।

सम्यग्दर्शन के लक्षणभूत आठ अंगों का निरूपण
सूत्र १२४५ से १५८६ तक ३४२

ननु सद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्य स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥१२४५॥

शङ्का—लक्ष्य रूप सम्यग्दर्शन का यह सम्पूर्णतया लक्षण है या कुछ और भी लक्षण है वह आज हमें कहिये ?

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥१२४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन आठ अंग सहित है यह तीन जगत् में प्रसिद्ध है। ललरण, गुरण, अङ्ग ये एकार्थ वाचक शब्द हैं।

निःशङ्कितं यथानाम निष्कांक्षितमतः परम्।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥१२४७॥

उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥१२४८॥

सूत्रार्थ—निःशङ्कित नाम[1], निष्कांक्षित[2], इसके बाद विचिकित्सा रहितपना[3], और दृष्टि की अमूढ़ता[4], उपबृंहणनाम[5], सुस्थितिकरण[6], वात्सल्य[7], और प्रभावना[8], ये आम्नाय के अनुसार सम्यक्त्व के गुण (लक्षण—अंग) हैं।

पांचवाँ अवान्तर अधिकार

निःशङ्कित अंग का स्वरूप सूत्र १२४९ से १३१४ तक ६६

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी।
तस्य निष्कान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥१२४९॥

सूत्रार्थ—शङ्का, भी, साध्वस, भीति, भय-ये सब एक नाम वाचक हैं। उस (भय) के निकल जाने से जो भाव उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निशङ्कित अंग है।

अर्थवाशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम्।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥१२५०॥

सूत्रार्थ—इसका यह भी अभिप्राय है कि इस गुण के कारण सूत्र (जिनागम) में बुद्धिमानों को (सम्यग्दृष्टियों को) शङ्का नहीं होती क्योंकि सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ उनके आस्तिक्य गोचर हो जाते हैं।

भावार्थ—पहले कह आये हैं कि सम्यग्दृष्टि प्रत्येक पदार्थ को आगम चक्षु से देखते हैं और आगम चक्षु से देखने वालों को यह सूक्ष्मादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थ प्रत्येक ज्ञानवत् आस्तिक्य गोचर हो जाते हैं निशङ्कित अंग की दो परिभाषाएं हो गई। एक तो भय का न होना दूसरे आगम में किसी प्रकार का संदेह न होना। अब सूक्ष्मादि किनको कहते हैं यह बताते हैं।

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥१२५१॥

सूत्रार्थ—उनमें धर्म-आदिक सूक्ष्म है तथा कालाणु और पुद्गल परमाणु सूक्ष्म हैं। इनके सूक्ष्मपना है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा लिङ्ग का (लक्षण का) अदर्शन है (जानने में नहीं आता है)।

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥१२५२॥

सूत्रार्थ—अन्तरित पदार्थ ये हैं जैसे द्वीप, समुद्र, पर्वत इत्यादिक दूरार्थ पदार्थ यह है—भविष्यत और भूतकाल में होने वाले राम, रावण, चक्रवर्ती इत्यादिक।

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम्।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात् सतः ॥१२५३॥

सूत्रार्थ—मिथ्यादृष्टि के इन का ज्ञान कभी भी संशय रहित नहीं होता। वास्तव में संशय का प्रथम कारण दर्शन मोह के उदय का सद्भाव है।

न चाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥१२५४॥

सूत्रार्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि वे परोक्ष हैं। सम्यग्दृष्टि के गोचर कैसे हो सकते हैं क्योंकि उनके साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष की भी असंभवता है।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत्।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥१२५५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—वहां महापुरुषों के सम्यक्त्व का महान् महात्म्य है कि इस के जगत् का ज्ञान आस्तिक्यपूर्वक होता है ।

नासम्भवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥१२५६॥

सूत्रार्थ—यह असंभव नहीं है क्योंकि स्वभाव तर्क के अगोचर है । यह सब अनिर्वचनीय अतिशय है । योगियों की योगशक्ति के समान (क्योंकि सम्यग्दृष्टि सब कुछ आगम चक्षु से देखता है) ।

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥१२५७॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा के आत्मा को जानने वाला ज्ञान है जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, शुद्ध, और सिद्ध पद के समान है ।

यत्रानुभूयमानेऽपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥१२५८॥

सूत्रार्थ—यद्यपि बालक से लेकर बड़े तक सब के द्वारा आत्मा अनुभव करने योग्य होने पर भी, मिथ्यात्व कर्म के उदय से वास्तव में जीवों के अनुभूति नहीं है ।

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥१२५९॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के वस्तु में स्वाद भेद है किन्तु वहां वस्तु में वास्तविक भेद नहीं है क्योंकि वस्तुसीमा का उलंघन नहीं होता है ।

भावार्थ—जैसे इस समय एक सम्यग्दृष्टि मनुष्य पर्याय में है और एक मिथ्यादृष्टि मनुष्य पर्याय में है । सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञान के महात्म्य के कारण पर्याय को गौण करके सामान्य का वेदन करता है । मिथ्यादृष्टि भेदविज्ञान के अभाव के कारण सामान्य स्वरूप से अपरिचित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। विशेष को (पर्याय को) ही पूर्ण वस्तु समझकर "बस इतना ही मैं हूं" ऐसा वेदन करता है। यद्यपि वस्तु दोनों की एक जैसी है पर स्वाद में भेद है। सामान्य का वेदन अतीन्द्रिय सुख रूप है। क्योंकि पर्याय नाशवान् है इसलिये पर्याय का वेदन भय युक्त है दुःखरूप है। इस विषय का विवेचन चौथी पुस्तक में हो चुका है।

तत्र तात्पर्यमेवैतत् तत्त्वैकत्वेऽपि यो भ्रमः।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सा तु मिथ्योपजीविनी ॥१२६०॥

सूत्रार्थ—उसमें यह ही तात्पर्य है कि तत्त्व के एक होने पर भी जो भ्रम है वह शङ्का का अपराध है और वह शङ्का तो मिथ्यात्व के उदय के साथ होने वाली है।

शङ्का

ननु शंकाकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शंकापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥१२६१॥

शङ्का—जो जीवों के मिथ्या अनुभव है वह शंकाकृत दोष है। मिथ्यात्व से अविनाभावी वह शंका भी किस न्याय से है?

समाधान सूत्र १२६२ से १२६५ तक ४

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥१२६२॥

सूत्रार्थ—इसका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टि है वह सात-भयों से युक्त है। जो सम्यग्दृष्टि है वह सात भयों से जरा छूवा भी नहीं है।

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥१२६३॥

सूत्रार्थ—वास्तव में परवस्तु में आत्मीय बुद्धि के बिना भय कैसे हो सकता है? भय पर्यायमूढों के होता है, एक आत्म तत्त्व (सामान्य)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अनुभव करने वालों के नहीं।

ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥१२६४॥

सूत्रार्थ—इसलिये भय (के सद्भाव का अनुमान जिनागम से किया जाता है और वह भय स्वानुभव के विनाश का अवश्य कारण है।

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारत्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥१२६५॥

सूत्रार्थ—यह सिद्ध है कि पराधीन (पर वस्तु के आधीन) जीव-पर को ही स्व मानने वाला जीव भयवान् और स्वात्मानुभव से रहित होता है। स्वस्थ (स्व में स्थित) के स्व में अधिकार होने से (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष सहित होने से) निश्चय से भय की असंभवता है (क्योंकि पर संयोग नाशवान् है। सामान्य अमर है)।

शङ्का सूत्र १२६६ से १२६७ तक २

ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित्।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् ॥१२६६॥

शङ्का—किसी २ उस सम्यग्दृष्टि के भी चारों संज्ञायें हैं क्योंकि उन संज्ञाओं का, व्युच्छिति गुणस्थान से पहले अस्तित्व पाया जाता है।

भावार्थ—शङ्काकार द्रव्यानुयोग में करणानुयोग की बात पूछता है; वह कहता है कि भय प्रकृति की व्युच्छति तो आठवें गुणस्थान में होती है और आप उसे चौथे में ही निर्भय मानते हो यह कैसे हो सकता है ? ऐसा उसका कहना है। इसका समाधान यह है कि करणानुयोग का कथन केवल ज्ञान के आधार पर है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक राग तक को पकड़ता है। द्रव्यानुयोगका कथन अपने ज्ञान गम्य है। जैसे वेद भाव की व्युच्छति तो नववें गुणस्थान में है पर मुनि छठे में ही ८४ लाख उत्तरगुण के धारी पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। उनके जो सूक्ष्म अबुद्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वक वेद का भाव रहता है। उसी की अपेक्षा नौवें में व्युच्छति है। इस प्रकार यहां श्रद्धा संबंधी-अनन्तानुबंधी संबंधी-दर्शनमोहसम्बंधी भय की बात थी। शङ्काकार ने चारित्रसंबंधी भय और अबुद्धिपूर्वक भय की अपेक्षा कह दिया है। चारित्र संबंधी भयतो ज्ञानियोंको भी होता है पर उसका यहां प्रकरण नहीं है। अब उस चारित्रसंबंधी भय के आधार पर वह अगले सूत्र में कहता है कि उसके भय प्रत्यक्ष देखा जाता है और उस भय का उपाय करता भी वह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥१२६७॥

शंका चालू—इसलिये सम्यग्दृष्टि भी सब प्रकार से भय रहित कैसे है ? और वह तो अनिष्ट पदार्थ के संयोग से प्रयत्नवान् भी प्रत्यक्ष देखा जाता है।

समाधान सूत्र १२६८ से १२७१ तक ४

सत्यं भीकोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥१२६८॥

सूत्रार्थ—ठीक है, वह भयसहित होकर भी निर्भय है क्योंकि उसके उनके स्वामीपना-आदि का अभाव है जैसे आंख रूपी द्रव्य को देखता हुवा भी नहीं देखता है अर्थात् श्रद्धा सम्बन्धी भय को ही वास्तव में भय कहते हैं और वह उस के नहीं है। अब अनिष्ट पदार्थ के संयोग से प्रयत्नवान् का उत्तर देते हैं।

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥१२६९॥

सूत्रार्थ—संसारी जीवों के जो कर्मांश उदय अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसमें मोह, राग, द्वेष करता हुवा उस कर्म के फल से उपयुक्त होता है। (प्रवचनसार गाथा ४३)। भाव यह है कि वह उदय का कार्य है। सम्यग्दृष्टि उसका कर्ता भोक्ता नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशंको न्यायदर्शनात् ।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शंकाहेतोरसंभवात् ॥१२७०॥

सूत्रार्थ—इसी कारण से ज्ञानी निःशंक है । उस में यह न्याय है कि इसके शंका की कारण एक देश भी मूर्च्छा नहीं पाई जाती है ।

सम्यग्दृष्टि के सात भयों से बंध नहीं इसकी भूमिका

स्वात्मसञ्चेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥१२७१॥

सूत्रार्थ—उस (सम्यग्दृष्टि) के स्वात्म संचेतन कैसा है यह विचार किया जाता है जिस के द्वारा कर्म को करता हुवा भी कर्म से युक्त नहीं होता है ।

सात भयों का वर्णन सूत्र १२७२ से १३१४ तक ४३

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पंचमी ॥१२७२॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥१२७३॥

सूत्रार्थ—उनमें (१) इस लोक में भय, (२) परलोक में भय (३) वेदना भय (४) अरक्षा भय (५) अगुप्ति भय (६) मृत्यु भय (७) आकस्मिक भय-ये सात भय माने गये हैं और क्रम से उद्देश्य (कथन करने योग्य) हैं ।

इस लोक का भय सूत्र १२७४ से १२८३ तक १०

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो मा भून्मा भून्मेऽनिष्टसंगमः ॥१२७४॥

सूत्रार्थ—उनमें इस लोक से भय यह है कि इस जन्म में ऐसा विलाप करना कि मेरे इष्ट पदार्थ नाश न होवे और मेरे अनिष्ट का संयोग न होवे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्मा भूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाद्दगात्मनः ॥१२७५॥

सूत्रार्थ—यह धन ठहरेगा या नहीं । दैव से दरिद्रता न हो जावे । इत्यादिरूप से मानसिक व्यथारूपी चिता मिथ्यादृष्टी आत्मा के जलाने के लिये सदैव जलती रहती है ।

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥१२७६॥

सूत्रार्थ—वास्तव में अज्ञानी के भय होता है । ज्ञानी के कहीं पर भी भय नहीं है क्योंकि निम्न हेतु से इन दोनों में महान् विशेषता (अन्तर) है ।

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥१२७७॥

सूत्रार्थ—अज्ञानी द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म स्वरूप जो कुछ है, इस सब को मोह से अद्वैतवाद की तरह मानता है अर्थात् इनको आत्मा ही मानता है ।

विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥१२७८॥

सूत्रार्थ—आत्म हत्या करने वाला (मिथ्यादृष्टि जीव) विश्व (सब पदार्थों) से भिन्न होता हुवा भी अपनी आत्मा को विश्वरूप करता हुवा, लोक में विश्वमय होकर कभी भी भय को नहीं छोड़ता है ।

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात् ।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥१२७९॥

सूत्रार्थ—तात्पर्य यही है कि कर्म के उदय से होने के कारण सब प्रकार से अनित्य शरीर-आदि में नित्य बुद्धि से भ्रान्त वह (मिथ्या-दृष्टि) भय को प्राप्त होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥१२८०॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि सदा अपने को एकरूप प्राप्त करता हुवा जो कुछ भी कर्म है उस से रहित होने से शुद्ध चिन्मय रूप को प्राप्त होता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि की अपनेपने की दृष्टि सामान्य स्वरूप पर जमी हुवी है जो अजर अमर सदा एकरूप अविनाशी है और भेदविज्ञान के कारण शेष सब पर को वह स्वभाव से ही कर्मकृत संयोगी नाशवान् वस्तु मानता है। होते हुवे भी न होते के समान ही हर समय मानता है। अतः उसे हर समय अतीन्द्रिय सुख का ही अनुभव होता है। भय का नहीं। इस सब प्रकरण में भय की नास्ति सामान्यसंवेदन समझना।

शरीर सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति सः ॥१२८१॥

सूत्रार्थ—वह शरीर सुख दुःखादि, पुत्रपौत्र-आदि को अनित्य और आत्म स्वरूप से भिन्न जानता है क्योंकि वे कर्मों के कार्य हैं।

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योऽस्ति सोऽर्थतः ।
नापरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥१२८२॥

सूत्रार्थ—यह जो चेतनामयी लोक है, वह मेरा लोक है, और वह लोक वास्तव में निश्चय से नित्य है। आत्मा से भिन्न लोक अलौकिक लोक नहीं है (किन्तु लौकिक है) इसलिये मेरे इस लोक से भय कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥१२८३॥

सूत्रार्थ—अपनी (शुद्ध) आत्मा का संचेतन करनें से इस प्रकार ज्ञानी एक ज्ञान में तल्लीन होने के कारण से इस लोक भय से मुक्त है और इस लोक भय से होने वाले कर्म बन्ध से भी मुक्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—ज्ञानी सदा सामान्य स्वरूप का संचेतन करने वाला है। अतः उसके भय जनित बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

. परलोक भय का निरूपण सूत्र १२८४ से १२९१ तक ८

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥१२८४॥

सूत्रार्थ—पर भव में भावि पर्याय रूप अंश को धारण करने वाला आत्मा परलोक है। और उस परलोक से जो कम्पने के समान भय होता है वह परलोक से भय है।

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥१२८५॥

सूत्रार्थ—अच्छा हो जो स्वर्ग लोक में जन्म हो, मेरा जन्म दुर्गती में न हो, इत्यादि प्रकार से व्याकुल मन पारलौकिक भय है।

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥१२८६॥

सूत्रार्थ—मिथ्यादृष्टि के ही वह परलोकभय होता है क्योंकि इस में केवल एक मिथ्यात्व भाव ही कारण है। उस (मिथ्यादृष्टि) के विपक्ष-भूत सम्यग्दृष्टि के वह परलोकमय नहीं होता है क्योंकि उस (सम्यग्दृष्टि) में मिथ्यात्व भाव का अभाव हो गया है।

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥१२८७॥

सूत्रार्थ—बाहर में ही आत्मदृष्टि रखने वाला (अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म को ही आत्मा समझने वाला), अपनी आत्मा को नहीं जानने वाला, केवल एक मिथ्यात्वभूमि में रहने वाला, अज्ञानी अपने को कर्म और कर्मफलस्वरूप प्राप्त (अनुभव) करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥१२८८॥

सूत्रार्थ—इसलिये नित्य भ्रान्तिमान की तरह भय से व्याप्त रहता है क्योंकि खोटी बुद्धि वाला मनुष्य (मिथ्यादृष्टि) मृगतृष्णा (रेत) में जल समूह मानता है (देखिये श्रीसमयसार गाथा ४ की टीका) अर्थात् इन्द्रिय सुखों में सुख मानता है जो रेत में जल के माननेवत् है ।

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥१२८९॥

सूत्रार्थ—किन्तु अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) तो निर्भीक है क्योंकि निर्भयपद आश्रित है क्योंकि इस परलोक भय में भी भय की कारण भ्रान्ति की अवश्य ही असंभवता है ।

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद् द्रवत्यधीः ॥१२९०॥

सूत्रार्थ—जो दूसरे पदार्थ में अन्य पदार्थ का दर्शन करना है वही मिथ्या भ्रान्ति है । जैसी अज्ञानी अन्धकार के कारण से रस्सी में सर्प की कल्पना करने से भागता है । उसी प्रकार जो पर को (परलोक-रूप पर्याय को) आत्मा मानता है उसी के परलोक भय है । जो स्व को स्व मानते हैं उन के काहे का भय ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स विभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥१२९१॥

सूत्रार्थ—जो स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ज्योति को (शुद्ध आत्मा को) अपने से अभिन्न जानता है और यह भी जानता है कि इस (परलोक) में वह ज्योति अन्यथा नहीं हो सकती (अर्थात् आत्मा पलट कर कुछ पुद्गल नहीं बन जायेगा) फिर वह किस न्याय से (कैसे) डरेगा ।

प्रमाण—यह इस लोकभय तथा परलोक भय से रहितपने का विषय ज्यों का त्यों श्रीसमयसार कलश १५५ का है । वह इस प्रकार—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इहलोक परलोक से निर्भयपना

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन–
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी कुतो–
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५५॥

कलशार्थ - यह चित्स्वरूप लोक ही, भिन्न आत्मा का (पर से भिन्न रूप परिणमित होते हुए आत्मा का) शाश्वत् एक और सकल व्यक्त (सर्वकाल में प्रगट) लोक हैं; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, उस से भिन्न दूसरा कोई लोक-यह लोक या परलोक-तेरा नहीं हैं, ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, इसलिये ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहां से हो ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुवा सहज ज्ञान का (अपने ज्ञान स्वभाव का) सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—'इस भव में जीवन पर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं' ? ऐसी चिन्ता रहना इह लोक का भय है। 'पर भव में मेरा क्या होगा' ? ऐसी चिन्ता का रहना परलोक का भय है। ज्ञानी जानता है कि—यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है, जोकि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्य स्वरूप लोक किसी के बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी के इहलोक का अथवा परलोक का भय कहां से हो ? कभी नहीं हो सकता, वह तो अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।

वेदना भय सूत्र १२६२ से १२६८ तक ७

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥१२६२॥

सूत्रार्थ—शरीर में (दूषित-वात-पित्त-कफ) मलों के प्रकोप होते से आने वाली बाधा वेदना है। वेदना के आने से पहले ही कांपना अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदना के आने पर शरीर के मोह से रोना पीटना वेदना भय है।

उल्लाघोऽहं भविष्यामि मा भून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा महुर्मुहुः ॥१२९३॥

सूत्रार्थ—मैं निरोगी (स्वस्थ) हो जाऊं, मेरे कभी भी वेदना नहीं होवे, इस प्रकार की मूर्च्छा ही वेदना भय है अथवा बार २ रोग का चिन्तवन करना वेदना भय है।

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोकषैहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥१२९४॥

सूत्रार्थ—निश्चय से वह वेदना मिथ्यादृष्टि के होती है क्योंकि उस में केवल एक दृष्टि दोष (मिथ्या श्रद्धा) ही कारण है। उसके नीरोगी (रोग रहित स्वभाव वाले) आत्मा का अज्ञान है। वह वेदना भय ज्ञानी के कभी नहीं होता।

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनम् ॥१२९५॥

सूत्रार्थ—पुद्गल से भिन्न चैतन्य स्वरूप मेरे व्याधि नहीं फिर किस कारण से भय हो सकता है। सम्पूर्ण व्याधि शरीर के होती है, अमूर्त आत्मा के नहीं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि का विचार है।

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥१२९६॥

सूत्रार्थ—जैसे प्रज्वलित अग्नि झोंपड़ी को जलाती है, उस (झोंपड़ी) के आकार रूप आकाश को नहीं जलाती है ऐसा देखा जाता है। इसी प्रकार व्याधि शरीर को जलाती है। उसके आकार रूप आत्मा को नहीं।

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥१२९७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—वर्तमान और भावि स्पर्शन-आदिक इन्द्रियों के विषयों में जिसका आदर नहीं है वह वास्तव में वेदनाभय से निर्भीक है।

भावार्थ—शरीर में वेदना तो कभी २ होती है। जीव को सब से बड़ी वेदना तो विषय अभिलाषा है। और वह सम्यग्दृष्टि के नहीं है। अतः वह वेदना भय से मुक्त है।

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धोऽनादरो मनाक्।
वाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥१२९८॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि के व्याधि के स्थानभूत उन इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त अनादर असिद्ध नहीं है क्योंकि स्वभाव से बाधा के कारण उन विषयों के, रोग से, कोई विशेषता नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के विषयों में अनादर है इसमें यह युक्ति दी है कि सम्यग्दृष्टि जानता है कि जैसी शरीर में रोग की बाधा ऐसी ही यह विषयों की अभिलाषा की बाधा; दोनों एक बराबर हैं। अतः वह विषयों को रोगवत् ही जानता है।

प्रमाण—यह वेदना भय से रहितपने का विषय ज्यों का त्यों कलश १५६ का है। वह इस प्रकारः—

वेदना से निर्भयपना

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदितवेद्यवेदकवलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५६॥

कलशार्थ—अभेद स्वरूप वर्तते हुये वेद्य-वेदक के बल से (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं, ऐसी वस्तुस्थिति के बल से) एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा (ज्ञानियों के द्वारा) सदा वेदन में आता है, वह एक ही वेदना (ज्ञान वेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है और ज्ञान वेद्य है)। ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (पुद्गल से उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं इसलिये उसे वेदना का भय कहां से हो सकता है? वह तो स्वयं निरन्तर निःशङ्क वर्तता हुवा सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—सुख दुःख को भोगना वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही उपभोग है। वह पुद्गल से होने वाली वेदना को वेदना ही नहीं समझता, इसलिये ज्ञानी के वेदना भय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुवा ज्ञान का अनुभव करता है।

अत्राण (अरक्षा) भय सूत्र १२६६ से १३०३ तक ५

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
नाशात्प्रागंशिनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥१२६६॥

सूत्रार्थ—(बौद्धों के) क्षणिक एकान्त पक्ष में प्रति समय नाश होने वाले चित्त-क्षण-आदि की तरह, (पर्याय के) नाश से पहले आत्मा रूप अंशी के नाश की रक्षा करने के लिये असमर्थता अत्राण (अरक्षा) भय कहलाता है।

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोऽन्वयात्।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥१३००॥

सूत्रार्थ—अंश (पर्याय) के नाश से पहले अन्वय से अंशी (द्रव्य) के नाश का भ्रम अत्राणभय है। वह निश्चय से केवल एक मिथ्या हेतुक होने से मिथ्यादृष्टि के ही होता है।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात्।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥१३०१॥

सूत्रार्थ—पर्याय के नाश होने पर भी अन्वय रूप रहने से (बना रहने से) सत् शरण है। उस शरणभूत सत् को नहीं स्वीकार करने वाले के समान वह अज्ञानी अत्राण(अरक्षा)भय से त्रस्त (भयभीत) होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥१३०२॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि तो अपने चेतनात्मक अंशों से प्रतिसमय चिदात्मा के नाश होने पर भी अर्थात् इस अपेक्षा से (पर्यायार्थिक नय से) आत्मा का नाश मानता हुवा भी अत्राणभय से निडर है (क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से तो............ ।

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ॥१३०३॥

सूत्रार्थ—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, और भाव से भी वस्तु थोड़ी भी अरक्षित नहीं है । इसलिये महात्मा (सम्यग्दृष्टि) के वह अत्राण भय कैसे हो सकता है ?

सार—सार यह है कि पर्याय दृष्टि वाले मिथ्यादृष्टि के अरक्षा-भय अवश्यंभावी है क्योंकि पर्याय तो नाशवान् है । उसकी रक्षा हो ही नहीं सकती और वह रक्षा करना चाहता है । सम्यग्दृष्टि के अरक्षा भय नहीं है क्योंकि उसकी सामान्य दृष्टि है । सामान्यस्वभाव स्वतः रक्षित है । उसका कभी नाश ही नहीं । मिथ्यादृष्टि पर्याय के नाश से सर्वस्व अपना मूल से ही नाश मानता है । उसकी दृष्टि में द्रव्य; पर्याय जितना ही है ।

प्रमाण—यह अत्राण भय कलश नं० १५७ का है जो इस प्रकार हैः—

अरक्षा से निर्भयपना

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलशार्थ—जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से प्रगट है। यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत् स्वरूप वस्तु) है (इसलिये नाश को प्राप्त नहीं होता), इसलिये पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा ? इस प्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है इसलिये) उसका किंचित् मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता, इसलिये (ऐसा जानने वाले) ज्ञानी को अरक्षा का भय कहां से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुवा सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—सत्ता स्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयंसत्ता स्वरूप वस्तु है; इसलिये वह ऐसा नहीं है जिसकी दूसरों के द्वारा रक्षा की जाये; तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाय। ज्ञानी ऐसा जानता है, इसलिये उसे अरक्षा का भय नहीं होता, वह तो निःशंक वर्तता हुवा स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

अगुप्ति भय सूत्र १३०४ से १३०६ तक ३

दृङ्मोहस्योदयाद् बुद्धिः यस्य चैकान्तवादिनी।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥१३०४॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोह के उदय से जिसकी बुद्धि एकान्तवाद के अनुसार श्रद्धान रखने वाली है, उसके ही अगुप्ति भय होता है। निश्चय से दूसरे (सम्यग्दृष्टि) के कभी भी नहीं होता है।

असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥१३०५॥

सूत्रार्थ—असत् पदार्थ के जन्म को और सत् पदार्थ के नाश को मानने वाले देहधारी के (मिथ्यादृष्टि के) अगुप्तिभय से छुटकारा चाहते हुवे के भी उस अगुप्ति भय से छूटने का क्या अवकाश ?

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन्।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसम्भवात् ॥१३०६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि तो निश्चय से वस्तु के स्वरूप को सदैव गुप्त मानता हुवा अगुप्ति भय से निर्भीक होता है क्योंकि उसके भय के कारण की असंभवता है

भावार्थ—सामान्य स्वभाव त्रिकाल गुप्त है। उसका कभी नाश नहीं। अतः सम्यग्दृष्टि अगुप्ति भय से रहित है और पर्याय तो प्रगट अगुप्त है। अतः मिथ्यादृष्टि को यह भय बना ही रहता है।

प्रमाण—यह अगुप्ति भय कलश नं० १५८ का है। जो इस प्रकार है:—

अगुप्ति से निर्भयपना

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५८॥

कलशार्थ—वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परम 'गुप्ति' है, क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; और अकृतज्ञान (जो किसी के द्वारा नहीं किया गया ऐसा स्वाभाविक ज्ञान) पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्मा की परम गुप्ति है)। इसलिये आत्मा की किंचित् मात्र भी अगुप्तता न होने से ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहां से हो सकता है? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुवा सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला, भौंरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहने वाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि—वस्तु के निज स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किला है। पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञान स्वरूप में रहा हुवा आत्मा गुप्त है; क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहां से हो सकता है? वह तो निःशंक वर्तता हुवा अपने स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

मृत्यु (मरण) भय सूत्र १३०७ से १३१० तक ४

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रयं मनः।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥१३०७॥

सूत्रार्थ—मृत्यु प्राणों के नाश को कहते हैं। प्राण काय वचन इन्द्रिय मन उच्छ्वासनिःश्वास आयु ये दश (प्राण) शब्द का विस्तार है। (अर्थात् प्राणों के दस भेद हैं)।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥१३०८॥

सूत्रार्थ—मेरा जीवन बना रहे, मेरे मरण कभी न होवे, अथवा दैव योग से कभी भी मैं (मृत्यु को) प्राप्त न होऊं इस प्रकार अपने शरीर के नाश में मानसिक चिन्ता मृत्यु भय है।

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम्।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥१३०९॥

सूत्रार्थ—निश्चय से तत्त्व को नहीं चाहने वाले मिथ्यादृष्टियों के ही मृत्यु भय नित्य होता है। मात्र एक अन्तस्तत्त्व में वृत्ति रखने वाले ज्ञानियों के वह मरण भय कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥१३१०॥

सूत्रार्थ—जीव के चेतना प्राण है। और वह चेतना निश्चय से आत्मा का जीवन है (आत्मरूप ही है)। वास्तव में मृत्यु (मरण) होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही नहीं है। इसलिये ऐसा श्रद्धान रखने वाले के वह मृत्यु भय कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—सामान्य स्वभाव मात्र चेतनरूप है। वही निश्चय प्राण है। उसका नाश नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टि के मरण भय नहीं है। जो पौद्गलिक दस प्राणों से ही आत्मा का जीवन मानता है उसके तो नियम से यह भय होगा ही क्योंकि पुद्गल प्राण तो संयोगी है। उनका वियोग अवश्यंभावी है। अतः मिथ्यादृष्टि को मरणभय वना ही रहता है।

प्रमाण—इस मरण भय का विषय कलश नं० १५६ का है। वह इस प्रकार हैः—

मरण से निर्भयपना

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ।।१५६।।

कलशार्थ—प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं। निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान है। वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत् होने से उसका कदापि नाश नहीं होता; इसलिये आत्मा का मरण किंचित् मात्र भी नहीं होता। अतः (ऐसा जानने वाले) ज्ञानी को मरण का भय कहां से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुवा सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—इन्द्रियादि प्राणों के नाश होने को लोग सदा मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं उसके तो ज्ञान प्राण हैं। और ज्ञान अविनाशी है—उस का नाश नहीं होता; अतः आत्मा को मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे मरण का भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुवा अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकस्मात् भय सूत्र १३११ से १३१४ तक ४

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥१३११॥

सूत्रार्थ—अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् भय आकस्मिक भय माना गया है। वह इस प्रकार जैसे बिजली आदि के गिरने से प्राणियों का मरण हो जाता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं मा भूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥१३१२॥

सूत्रार्थ—जैसे स्वस्थपना (अच्छी हालत) बना रहे, मुझे कभी भी दुर्-अवस्थापना (बुरी हालत) न होवे, इस प्रकार से व्याकुलित मन से होने वाली मानसिक चिन्ता आकस्मिक भय है।

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥१३१३॥

सूत्रार्थ—वास्तव में आकस्मिक भय मिथ्यात्व युक्त जीव के होता है। इसके मोक्ष कैसे हो सकती है क्योंकि उस आकस्मिक भय से वह अपने निर्भीक अनुपम पद से (शुद्ध आत्मा से) च्युत हो रहा है।

निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोऽप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥१३१४॥

सूत्रार्थ—जीव मात्र एक निर्भीक पद में स्थित है, अनन्त है, और अनादि से है। उस (अनादि अनन्त निर्भीक पद) में (स्थित जीव को) अकस्मात् होने वाला कुछ है ही नहीं। अतः उस निर्भीक पद को चाहने वाले सम्यग्दृष्टि के वह आकस्मिक भय कैसे हो सकता है।

भावार्थ—सामान्य स्वभाव त्रिकाल एक रूप है। उसमें आने जाने वाला कुछ है ही नहीं। अतः सामान्य दृष्टि वाले सम्यग्दृष्टि के अकस्मात् भय नहीं है। पर्याय दृष्टि वाले को प्रत्येक समय आफत ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[-७७१-]

आफत है। यह अकस्मात भय है।

प्रमाण—इसमें कलश नं० १६० का विषय है। तथा सातों भय का क्रम वही है जो कलशों का है। निशङ्कित अंग का स्वरूप भी वही है जो अमृतचन्द्र जी ने श्रीसमयसार में अर्थ किया है। अतः यह ग्रन्थ उन्हीं का है। भाव ज्यों का त्यों मिलता है। वह इस प्रकार है:—

अकस्मात् से निर्भयपना

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१६०॥

कलशार्थ—यह स्वतः सिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। वह जबतक है तब तक सदा ही वही है, उसमें दूसरे का उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। ऐसा जानने वाले ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहां से हो सकता है ? वह तो स्वयं निरंतर निःशंक वर्तता हुवा सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—'यदि कुछ अनिर्धारित—अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो' ? ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है। ज्ञानी जानता है कि—आत्मा का ज्ञान स्वतः सिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहां से होगा, अर्थात् अकस्मात् कहां से होगा ? ऐसा जानने वाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुवा अपने ज्ञान भाव का निरन्तर अनुभव करता है। इस प्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते।

प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है, और उनके भय प्रकृति का उदय होता है, तथा उसके निमित्त से उनके भय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता हुवा भी देखा जाता है। तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है ?

समाधान—भय प्रकृति के उदय के निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है, और अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव, स्वरूप के ज्ञान श्रद्धान से च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है वह मोह कर्म की भय प्रकृति नामक प्रकृति का दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिये ज्ञानी के भय नहीं है।

प्रमाण—यहां तक निःशंकित अंग का स्वरूप पूरा हुवा। अब कुछ अन्य आगमों के प्रमाण देते हैं:—

श्रीसमयसार जी में कहा है २२८—२२९

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसलिये निर्भय होते हैं और क्योंकि वे सप्त भयों से रहित होते हैं, इसलिये निःशंक होते हैं (अडोल होते हैं)। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं इसलिये वे कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिये वास्तव में वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चय वाले होने से अत्यन्त निर्भय हैं, ऐसी संभावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है)।

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता कर्मबंध सम्बन्धी मोह करने वाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बंधा हुवा है ऐसा भ्रम करने वाले)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्वादी भावरूप चारों पादों को छेदता है, उसको निःशंक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक-भावमयता के कारण कर्म बन्ध सम्बन्धी शङ्का करने वाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों से बंधा हुवा है ऐसा संदेह अथवा भय करने वाले मिथ्यात्वादि भावों का (उसको) अभाव होने से निःशंक है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्तव्या ॥२३॥

सूत्रार्थ—सर्वज्ञों द्वारा वह समस्त जीवादिक पदार्थों का समूह अनेकान्त स्वरूप कहा गया है सो क्या सत्य है? या झूठ है? ऐसी शंका कभी नहीं करनी चाहिये। जिनागम में प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति, तत्-अतत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, इन चार विरोधी धर्मों (युगलों) युक्त कही है। भगवान् जाने ये परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में रह भी सकते हैं या नहीं, ऐसा विचार नहीं आना निशंकित अंग है अर्थात् वस्तु स्वरूप में किसी प्रकार की शंका न होना निःशंकित अंग है।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

इदमेवेदृशमेव तत्त्व नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११॥

सूत्रार्थ—तत्त्व यही है और इसी प्रकार है। दूसरा नहीं है और दूसरे प्रकार भी नहीं है। इस प्रकार सच्चे मार्ग में (वस्तु धर्म में) तलवार के पानी के समान निश्चल श्रद्धा होना निशंकित अंग है। भाव उपर्युक्त अनुसार है।

श्रीअमितगतिश्रावचाकार में कहा है

विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना ।
जिनेशिनैते कथिता न वेति यः ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करोति शंकां न कदापि मानसे ।
निःशंकितोऽसौ गदितो महामनाः ॥७३॥

सूत्रार्थ—वीतराग और सब पदार्थों के ज्ञाता जिनेन्द्र देव कर ये सब पदार्थ कहे गये हैं। वे हैं या नहीं हैं? ऐसी शंका को जो कदाचित् मन में नहीं करे वह महान् निःशंकित अंग कहा गया है। भाव यह है कि जिनवचन में वा आत्मस्वरूप में संदेह न होना सो निःशंकित अंग है ऐसा जानना।

छटा अवान्तर अधिकार

निःकांक्षित अंग सूत्र १३१५ से १३४४ तक ३०

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥१३१५॥

सूत्रार्थ—(व्रतादिक) क्रियाओं के करने पर (उनसे) पर भव के लिये भोगों की अभिलाष करना अथवा कर्म में और कर्म के फल में अपनेपने का भाव रखना तथा अन्यदृष्टि की प्रशंसा करना, कांक्षा है।

भावार्थ—अब सम्यग्दृष्टि के निःकांक्षित अंग को बतलाने के लिये पहले कांक्षा का स्वरूप निर्देश करते हैं क्योंकि उस कांक्षा से रहितपना ही निःकांक्षा है (१) मिथ्यादृष्टि जो व्रतादिक क्रियाएं करता है उनके फलस्वरूप स्वर्ग सुख की इच्छा उसके हृदय में रहती है वह इच्छा ही कांक्षा है। सम्यग्दृष्टि को सामान्य का आश्रय है। उसके आश्रय से जितना शुद्ध भाव प्रगट है वह तो मोक्ष का कारण है। साथ में जो शुभ भाव है उसको वह केवल अशुभ से बचने के लिये करता है फिर भी उस में उसकी उपादेय बुद्धि नहीं है। वह उसका ज्ञाता द्रष्टा है। उसकी इच्छा उस शुभ भाव को तोड़ कर शुद्ध भाव को पूर्ण करने की है किन्तु अभी चारित्र की निर्बलता है तोड़ नहीं सकता है। वह यह भी जानता है कि इस शुभ भाव का फल स्वर्ग का बंध है। और उसका फल विषय सुख है पर उस विषय सुख को वह श्रीपंचास्तिकाय सूत्र १७१,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७२ की टीका अनुसार राग के अंगारों में जलना समझता है। चन्दन के वृक्ष पर लगी हुवी आग है क्योंकि उस विषय सुख की अविनाभावी तृष्णा की वृद्धि रूप दुःख और रागादिभावों की सेना उसका फल है जो बंध की कारण और संसार बढ़ाने वाली है। अतः वह उस सुख को नहीं चाहता। शरीर और वचन की शुभ क्रियाओं को तो वह जानता है कि इनसे पुण्य पाप या मोक्ष का कुछ सम्बन्ध ही नहीं। यह तो पर-द्रव्य की स्वतन्त्र क्रिया है। अपनी योग्यता से होती है। यह सम्यग्दृष्टि का पहला निःकांक्षाभाव है। (२) कर्म के संयोग से जो शरीर, स्त्री, पुत्र, धनादि या देव शास्त्र गुरु आदि सामग्री का संयोग है यह कर्म का फल है। उसको मिथ्यादृष्टि अपना मानता है यह कर्म और कर्म के फल में अपनेपने का भाव है। यह अपनेपने का भाव ही कांक्षा है। यह कांक्षाभाव मिथ्यादृष्टि के नियम से होता है। सम्यग्दृष्टि को स्वपर का भेदविज्ञान है। उसके बल पर वह केवल सामान्य तत्त्व को अपना मानता है। शेष सब कर्मकृत मानता है क्योंकि उसका उसके साथ कार्यकारण सम्बन्ध है। अतः उसे स्वप्न में भी किसी कर्मकृत वस्तु में अपनेपने का भाव नहीं होता यह उसका निःकांक्षा भाव है। (३) मिथ्यादृष्टि को वस्तु स्वरूप का निर्णय न होने से अन्यमती की किसी क्रिया का या अन्य कोई बात की प्रशंसा उसके मुख से निकल पड़ती है। जैसे यह कैसा सुन्दर वक्ता है, उन लोगों में कितनी उदारता है, अपने गुरु की कितनी सेवा करते हैं, कितना दान करते हैं, यहां कोई पूछता ही नहीं कितना बढ़िया मन्दिर बनाया है, शास्त्र में क्या बढ़िया बैंक पेपर लगाया है। इत्यादि सब कांक्षा भाव है। मिथ्यादृष्टि को सत् असत् का निर्णय न होने से ऐसा भाव आ ही जाता है। आज विनय मिथ्यात्व का जोर है। सारे जगत् की बुद्धि सब धर्मों के समन्वय की होती जा रही है। यह सब गाढ़ मिथ्यात्व और अनन्त संसार उत्पत्ति का भाव है। जहर अमृत तीन काल में एक नहीं हो सकते। धर्म और अधर्म का मेल किसी भी अङ्ग से तीन काल में नहीं हो सकता। सत्यमार्ग केवल एक सर्वज्ञ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रणीत दिगम्बर धर्म है। बिना अन्तरंग और बाह्य दिगम्बरत्व के मुक्ति त्रिकाल नहीं। ऐसी सच्ची बात लिखना तो दरकिनार कहने का भी आज किसी को साहस नहीं; किन्तु है यही बात। यह कांक्षा भाव है। मिथ्यादृष्टि को होता ही है। सम्यग्दृष्टि; आत्मा को, पर को, शुद्ध भाव रूप धर्म को, शुभाशुभ जहर को, कर्मजनित संयोग के अनुभव पूर्वक जानता है। उसकी सर्वज्ञभाषित आगमदृष्टि है। कितना भी असाता का उदय आये किन्तु भूलकर भी उसकी मार्ग से श्रद्धा नहीं डिगती यह निःकाक्षित अंग है। श्रीमद्राजचन्द्र जी ने कहा है। 'तीन काल में एक है परमार्थ को पंथ"। श्रीसमयसार जी में सम्यग्दृष्टि के भाव दिखाते हुवे कहा हैः—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ।।१५४।।

कलशार्थ—जिसके भय से चलायमान होते हुवे (खलबलाते हुवे) तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं, ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होने से, समस्त शंका को छोड़कर, स्वयं अपने को (आत्मा को) जिस का "ज्ञानरूपी शरीर अबाध्य है" ऐसा जानते हुवे, ज्ञान से च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करने के लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकित गुण युक्त होते हैं, इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। जिसके भय से तीनों लोक के जीव कांप उठते हैं—चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुवा ज्ञान से चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जायेगा, यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है, क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है।

असल में भूल कहां होती है। जगत् राज और धर्म का समन्वय करता है। भाई, राज तो परवस्तु के बढ़ाने को कहते है और धर्म परवस्तु के त्याग को कहते हैं। यह तो परस्पर आग पानीवत् विरोधी है पर अज्ञानियों को वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञता के कारण ऐसे ही विकल्प आया करते हैं। इससे और आगे वढ़े हुवे लोग समाजव्यवस्था और धर्म को एक करते हैं किन्तु यह भी सोलह आने की भूल है। सामाजिक व्यवस्था शरीर के नियम के आधार पर है और धर्म को आत्मा का आधार। इसमें जमीन आसमान का अन्तर है। समाज व्यवस्था तो सब को भिन्न २ है तो क्या दिगम्बर समाज का जीव ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है ? नहीं। श्रीरत्नकरण्ड में लिखा है कि सम्यग्-दृष्टि का धारी चाण्डाल भी देव है। सम्यग्दृष्टि धर्मातमा तो नारकी और तिर्यञ्च भी होते हैं। धर्म तो आत्मा का शुद्धभाव है जो सामान्य के आश्रय है। कहां तक कहें, सार यही है कि जब तक जीव को आत्मदर्शन नहीं होते, स्वात्मानुभूति नहीं होती तब तक अनेक लोक मूढ़ताओं को धर्म कल्पना करता है। धर्म तो केवल स्वात्मानुभूति है। शेष सब पाखण्ड है अतः सम्यग्दृष्टि को परमत की प्रशंसारूप कांक्षा भाव कभी नहीं होता। अब क्योंकि मुख्यतया भोगों की अभिलाषा को कांक्षा कहते हैं अतः ग्रन्थकार उसकी परीक्षा का चिन्ह बताते हैं जिससे तुरन्त पता चल जाता है कि इस आत्मा में अभी कांक्षा भाव हैं या नहीं ?

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥१३१६॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियों के लिये अप्रिय विषयों में जो अत्यन्त उद्वेग होता है वह भोगाभिलाष का चिन्ह है क्योंकि वह अपने इष्ट पदार्थ में अनुराग करने से होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—कोई यह कहे कि हमें तो कांक्षा भाव (भोगाभिलाष भाव) नहीं है तो उसकी परीक्षा बतलाते हैं कि अपने इष्टविषयों के प्रतिकूल विषय में या अपने इष्ट विषय में बाधा डालने वाले पर जो रोष आता है वह इस बात का सूचक है कि अभी इस जीव की इष्ट विषय में रुचि है अन्यथा वह रोष भाव नहीं हो सकता था। अब इस में युक्ति देते हैं।

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेऽप्यरतिं बिना।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्ष रतिं बिना ॥१३१७॥

सूत्रार्थ—वह इस प्रकार कि पक्ष में रति भी विपक्ष में अरति के बिना नहीं होती है। अथवा स्वपक्ष में अरति भी उसके विपक्ष में रति के बिना नहीं होती है अर्थात् ऐसा स्वाभाविक नियम है कि एक के प्रति द्वेष उसके विरोधी के प्रति राग का सूचक है। और एक के प्रति राग उसके विरोधी के प्रति द्वेष का सूचक है। जैसे

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते।
नेच्छेदनुष्णसस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥१३१८॥

सूत्रार्थ—जैसे कोई शीत से द्वेष करने वाला उष्ण स्पर्श को चाहता है क्योंकि उष्णस्पर्श को चाहने वाला अनुष्ण स्पर्श (ठण्ड) को नहीं चाहता है।

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः।
यस्यत्तास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥१३१९॥

सूत्रार्थ—जिसके कांक्षा भाव है वह निश्चय से मिथ्यादृष्टि है। जिसके वह (कांक्षित भाव) नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है। यह युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध है वह इस प्रकारः—

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥१३२०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—भोगाभिलाष से पर भव में इष्ट पदार्थ का संयोग तो दूर ही रहो किन्तु इससे इस लोक सम्बन्धी सब स्वार्थों की भी सिद्धि नहीं होती है (क्योंकि पदार्थ का संयोग कर्माधीन है। इच्छाधीन नहीं है)।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरंगवत् ॥१३२१॥

सूत्रार्थ—यह (अभिलाष) मात्र एक मिथ्यात्व कर्म के उदय से प्राणी के उन्मत्त पुरुष की तरह व्यर्थ प्रगट होती है जैसे समुद्र में वायू के निमित्त से लहर। (अर्थात् इच्छा का कारण अज्ञानता है)।

शङ्का १३२२ से १३२८ तक ७

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥१३२२॥

शङ्का—कार्य को लक्ष्य किये बिना मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता फिर भोग की अभिलाषा के बिना ज्ञानी उस व्रत को कैसे आचरण करे?

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥१३२३॥

शङ्का चालू—यह भी असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध ही है कि क्रिया का फल केवल बन्ध मात्र है। शुभ क्रिया का फल शुभमात्र है और अशुभ क्रिया का अशुभ फल है।

न चाशंक्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेऽपि विरागवत् ॥१३२४॥

शङ्का चालू—ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिये कि यह क्रिया भी कहीं सम्यग्दर्शन के अतिशय के कारण से सरागी में भी विरागी की तरह अबन्धफला है।

यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसम्भवात् ॥१३२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शङ्का चालू—क्योंकि यह बात प्रमाण से भले प्रकार सिद्ध है कि निश्चय से क्रिया बंधफला है क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थानों से पहले पहले उस बंध का कारण (रागादि) अवश्य पाया जाता है।

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥१३२६॥

शङ्का चालू—सरागी में अथवा वीतरागी में निश्चय से औदयिकी क्रिया अवश्य बन्धफला है क्योंकि मोह राग द्वेष में से किसी एक का उदय है।

न च वाच्यं स्यात् सद्दृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥१३२७॥

शङ्का चालू—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये कि कोई सम्यग्दृष्टि बुद्धि के दोष से उस बन्धफला क्रिया को भी अबंधफला जानकर करे।

यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥१३२८॥

शङ्का चालू—क्योंकि प्रज्ञा से अविनाभूत सम्यक् विशेषण है। उस प्रज्ञा के अभाव से निश्चय से दर्शन की दिव्यता कैसी ?

शङ्काकार का आशय—शङ्काकार कहता है कि आप कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के पर भव में भोग आकांक्षा नहीं है पर वह व्रत करता हुवा तो प्रत्यक्ष दीखता है। और व्रत का फल स्वर्ग है ही। बिना उद्देश्य के तो साधारण व्यक्ति भी कार्य नहीं करता फिर सम्यग्दृष्टि तो महा बुद्धिमान है। वह बिना भोगाभिलाषा के व्रत कैसे पालता है ? यह आप कह नहीं सकते कि क्षीणकषाय जीवों की तरह सरागी सम्यग्दृष्टि को क्रिया से बन्ध नहीं होता क्योंकि दसवें गुणस्थान तक बन्ध तो कहा है। यह भी आप नहीं कह सकते कि सम्यग्दृष्टि उन्हें अबन्धफल वाली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जान कर करता है क्योंकि वह तो ज्ञानी है, पदार्थ का स्वरूप जानता है। पदार्थ का स्वरूप जाने बिना सम्यग्दृष्टि ही नहीं हो सकता। इसलिये व्रतक्रिया के पालन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि के भोगाभिलाष है। उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के मोह का अभाव होने से इच्छा मात्र का अभाव है। उसकी क्रिया शुभ हो चाहे अशुभ हो; सब बिना इच्छा ही होती है।

समाधान

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया।
शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥१३२९॥

सूत्रार्थ – ऐसा नहीं है क्योंकि यह पहले भले प्रकार सिद्ध कर आये हैं कि क्रिया बिना इच्छा के होती है फिर शुभ क्रिया का और अशुभ क्रिया का क्या अन्तर विशेषता को धारण करने वाला है। अर्थात् शुभअशुभ दोनों क्रियायें बिना इच्छा के होती हैं।

अगली भूमिका—इस समाधान से शिष्य की संतुष्टि नहीं हुवी वह कहता है कि अनिष्ट क्रियायें तो बिना इच्छा के होती हैं जैसे जीना, मरना, हानि, जरा रोग। पर क्या कहीं व्रतपालन जैसी क्रिया भी बिना इच्छा के होती है। नहीं होती। अतः सम्यग्दृष्टि परभव में भोगाभिलाष से ही व्रत पालता है। उसके उत्तर में उसे समझायेंगे तो तूने सैद्धान्तिक भूल की है। क्रिया मात्र उदय का कार्य हैं। उसमें शुभाशुभ का भेद नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि अशुभ क्रिया तो उदय से हो और शुभ क्रिया पुरुषार्थ से हो। सब उदय का ही कार्य है और दोनों क्रियायें सम्यग्दृष्टि के बिना इच्छा ही होती हैं। पुरुषार्थ तो शुद्ध भाव में है।

शङ्का १३३० से १३३१ तक २

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥१३३०॥

शङ्का—जो अनिष्टार्थसंयोगरूपा क्रिया है वह क्रिया तो बिना इच्छा के होती है। जो विशिष्ट इष्टार्थ संयोगरूपा क्रिया है वह बिना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छा के कैसे हो सकती है ?

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥१३३१॥

शङ्का चालू—शुभ क्रिया व्रतरूप होती है। वास्तव में वह बिना इच्छा के प्रगट नहीं हो सकती है। उस क्रिया के स्वतन्त्र (पुरुषार्थ पूर्वक) सिद्ध होने से (सम्यग्दृष्टि के उसका) कर्तापना वास्तव में सिद्ध है।

समाधान १३३२ से १३४४ तक १३

नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥१३३२॥

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं क्योंकि कर्म के उदय स्वरूप सब कुछ अनिष्ट अर्थ है। इसलिये ज्ञानी जितना भी कर्म और उसका फल है उसको नहीं चाहता है।

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥१३३३॥

सूत्रार्थ—और जो पदार्थपने से कोई इष्ट अर्थ है और कोई अनिष्ट अर्थ है वह सब दृष्टिदोष पने से है, पीला शंख देखने के समान।

भावार्थ—शंख वास्तव में सफेद होता है किन्तु किसी आंख के रोगी को वह पीला दीखता है। इसी प्रकार पदार्थ इष्ट अनिष्ट नहीं है किन्तु मिथ्यादर्शन के कारण कोई इष्ट कोई अनिष्ट दीखता है।

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् भूतार्थदर्शिनी ।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥१३३४॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोह के नाश होने पर दृष्टि साक्षात् भूतार्थ को देखने वाली होती है। उसके कर्मफल स्वरूप अनिष्ट पदार्थ में अनिष्ट पदार्थपने की बुद्धि होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न चासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥१३३५॥

सूत्रार्थ—कर्म के और उसके फल के अनिष्टपना असिद्ध नहीं है क्योंकि वह सब प्रकार से दुःख का कारण है। यह युक्ति, स्वानुभव और आगम से सिद्ध है।

अनिष्टफलवत्त्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥१३३६॥

सूत्रार्थ—अनिष्ट फल वाली होने से व्रत क्रिया अनिष्टार्था है। जैसे दुष्टकार्य के अनुकूल कारण को 'दुष्ट' कहा जाता है।

अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो यतः ॥१३३७॥

सूत्रार्थ—और क्रिया के स्वतन्त्रपना असिद्ध है क्योंकि कर्म के फल से होती है क्योंकि कर्मोदय रूप कारण के बिना उसकी असंभवता है।

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥१३३८॥

सूत्रार्थ—सब सरागी और वीतरागी आत्मा की जो कुछ भी क्रिया नाम की है वह सब औदयिकी मानी गई है।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥१३३९॥

सूत्रार्थ—कर्मोदय के प्रति पुरुष का इच्छानुसार पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि क्रिया केवल पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रखती है किन्तु दैव की अपेक्षा रखती है।

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियां ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥१३४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—ज्ञानी औदयिकी क्रिया को करता हुवा भी इच्छा रहित सिद्ध है। विरागियों का इच्छा रहित पने से किया हुवा कार्य राग के लिये नहीं है।

न चाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योऽपि जनः क्वचित्।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥१३४१॥

सूत्रार्थ—और ऐसी आशंका भी न करनी चाहिये कि सामान्य मनुष्य कहीं पर भी सम्यग्दर्शन के अतिशय के बिना किसी अन्य कारण से कांक्षा रहित है।

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥१३४२॥

सूत्रार्थ—क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना इच्छा रहितपना नहीं होता है न्याय से भी उस अतीन्द्रिय सुख को नहीं चाहने वाले के इन्द्रिय जन्य सुख में अनिच्छा नहीं है।

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥१३४३॥

सूत्रार्थ—उस अतीन्द्रिय सुख को मोह से मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता है क्योंकि उसके दर्शन मोह की वैसी उदय शक्ति का निरन्तर सद्भाव है।

उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत् परीक्षा क्षमता मता ॥१३४४॥

सूत्रार्थ—निःकांक्षित भाव कहा गया, जो वास्तव में सम्यग्-दर्शन का गुण (अंग) होवे। इसमें हमारी कोई हानि नहीं यदि पहले परीक्षा की जा चुकी हो।

भावार्थ—उपर्युक्त निःकांक्षित भाव स्वात्मानुभूति के साथ ही प्रगट होता है। अतः स्वात्मानुभूति का सद्भाव उसकी परीक्षा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वात्मानुभूति के साथ वह वास्तविक निःकांक्षित भाव है और बिना उसके होता ही नहीं। यदि कोई कहे भी तो आभास मात्र है।

प्रमाण--निःकांक्षित अंग पूरा हुवा। अब कुछ अन्य आगमों के प्रमाण देते हैं:—

श्रीसमयसार जी में कहा है

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता कर्मों के फलों के प्रति तथा सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा नहीं करता है उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयताके कारण, सभी कर्म फलों के प्रति तथा समस्त वस्तु धर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से निष्कांक्ष (निर्वांच्छक) है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

सूत्रार्थ—इस लोक में ऐश्वर्य सम्पदा पुत्र आदि को और परलोक में चक्रवर्ती नारायण इन्द्र आदि पदों को और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे। अर्थात् इन्द्रिय भोगों की इच्छा न करना तथा वस्तु को सर्वथा अस्ति या सर्वथा नास्ति, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य, सर्वथा तत् या सर्वथा अतत्, सर्वथा एक या सर्वथा अनेक, इस प्रकार एकान्त दोष युक्त मानने वाले अन्य विपरीत धर्मों को भी न चाहना निःकांक्षित अंग है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुण्य के फल स्वरूप इन्द्रिय विषयों को आकुलता के निमित्त से दुःख रूप ही जानकर नहीं चाहता है। और अन्य धर्मों में वस्तु स्वरूप की विपरीतता होने से उन्हें भी नहीं चाहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२॥

सूत्रार्थ—कर्म का है परवश जिसमें, अन्तसहित, दुःखों से मिला हुवा है उदय जिसका, पाप के बीजभूत ऐसे विषय सुख में इच्छा का न होना निःकांक्षित अंग माना गया है (विषयसुख के दोषों का दिग्दर्शन श्रीप्रवचनसार गा. ७६ में अच्छा कराया है और ग्रन्थराज श्रीपंचाध्यायी की चौथी पुस्तक में आ चुका है) ।

श्रीअमितगतिश्रावकाचार में कहा है

विधीयमानाः शमशीलसंयमाः
श्रियं ममेमे वितरंतु चिंतिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं
निःकांक्षितो नेति करोति कांक्षणाम् ॥७४॥

सूत्रार्थ—ये उपशम शील संयम हैं । करे भये संसारिक अनेक सुखनिकी बढ़ावने वाली वांछित लक्ष्मीकों मेरै विस्तारहु ऐसी वांछा, निःकांक्षित पुरुष है सो न करै है । अर्थात् कर्म के फल की वांछा त्यागिये सो निःकांक्षित अंग जानना ।

सातवां अवान्तर अधिकार

निर्विचिकित्स अंग सूत्र १३४५ से १३५५ तक ११

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः ।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥१३४५॥

सूत्रार्थ—अब जो निर्विचिकित्स नाम का गुण है वह भले प्रकार लक्षित किया जाता है । जो युक्ति वश से भी सम्यग्दर्शन गुण का महान् गुण (अंग) है ।

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सता मता ॥१३४६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—अपने में अपने गुणों के उत्कर्ष को दिखाने की बुद्धि से अपनी आत्मा की प्रशंसा करने से दूसरे में गुणों के अपकर्ष को दिखाने की बुद्धि विचिकित्सा मानी गई है।

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥१३४७॥

सूत्रार्थ—विचिकित्सा से जो रहितपना है वह निर्विचिकित्सक कहा गया है। वह सम्यग्दर्शन का महान गुण है। उसका लक्षण कहूंगा वह इस प्रकार है:—

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥१३४८॥

सूत्रार्थ—खोटे भाग्य से तीव्र असाता से घृणा के स्थान दुःखित पुरुष में जो घृणातत्पर चित्त का नहीं होना है वह निर्विचिकित्सक गुण माना गया है।

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥१३४९॥

सूत्रार्थ—उस (निर्विचिकित्सक अंग वाले सम्यग्दृष्टि) के मन में यह अज्ञान नहीं है कि मैं सम्पत्तियों का स्थान हूं। और वह दीन गरीब मेरे समान नहीं है, किन्तु विपत्तियों का स्थान है।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥१३५०॥

सूत्रार्थ—उलटा उस (निर्विचिकित्सक गुण वाले सम्यग्दृष्टि) में यह ही ज्ञान है कि कर्म के उदय से उत्पन्न त्रस और स्थावर योनिवाले सब प्राणी बराबर हैं।

यथा द्रावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥१३५१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जैसे शूद्री के पेट से दो बच्चे उत्पन्न हुवे। वे दोनों ही बच्चे भ्रान्ति रहित शुद्र हैं। भ्रमात्मकपने से भेद किया जाता है।

प्रमाण—(श्री समयसार कलश नं० १०१)।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥१३५२॥

सूत्रार्थ—जल में काई की तरह प्रगट जीव में जो कुछ अपवित्र कर्म है, मैं और वे सब जीव सामान्य रूप से निश्चय से कर्मों से मलीन हैं।

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतो अवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥१३५३॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन का वह निर्विचिकित्सक गुण है क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर वह अवश्य होता है और उसके अतिरिक्त कहीं पर भी नहीं होता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः।
सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥१३५४॥

सूत्रार्थ—कर्म के उदय से होने वाली पर्याय मात्र में राग करने वाले के वह गुण कैसे हो सकता है। सत् भिन्न भिन्न होने पर भी गाढ़ मोह से उन दोनों में ऐक्य समझता है।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥१३५५॥

सूत्रार्थ—इस प्रकार जो युक्तिपूर्वक कहा गया है वह सम्यग्दर्शन का गुण है। वह यदि न कहा जाय तो दोष के लिये नहीं है और कहा जाये तो सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार की विशेषता को लाने के लिये भी कारण नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—सम्यग्दर्शन का और इन गुणों का अविनाभाव संबंध है। सम्यग्दृष्टि में यह गुण स्वतः स्वभाव से उत्पन्न होता ही है। इसलिये कहो तो कोई लाभ नहीं और न कहो तो कोई हानि नहीं पर यह होता अवश्य है।

सार—विचिकित्सा ग्लानी को कहते हैं और निर्विचिकित्सा ग्लानी रहितपने को कहते हैं। मिथ्यदृष्टियों की संयोगी दृष्टि है। वे दैवयोग से अपने में इष्टसंयोगों की बहुलता होने पर और दूसरे में अनिष्टसंयोगी की बहुलता होने पर उससे घृणा करते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि तो जानता है कि कर्मरहित वस्तु तो सामान्य आत्मा है। वह सब की एक बराबर है। उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह कर्मकृत वस्तु है। हेय है। कम हुवी तो क्या अधिक हुवी तो क्या। अतः उसे दूसरे के प्रति घृणा का भाव नहीं आता।

प्रमाण—अब इस अंग के कुछ आगम प्रमाण देते हैं:—

श्रीसमयसार में कहा है

जो ण करेद जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता सभी धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता उसको निश्चय से निर्विचिकित्स (विचिकित्सा दोष से रहित) सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, सभी वस्तु धर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से, निर्विचिकित्स (जुगुप्सारहित-ग्लानिरहित) है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि नाना प्रकार के भावों में और विष्टा आदिक पदार्थों में ग्लानि नहीं करना चाहिये। पाप के उदय से दुःखदायक भावों का संयोग होने पर उद्वेग रूप न होना क्योंकि उदयाधीन कार्य अपने बस का नहीं तथा विष्टादि पदार्थों में ग्लानि न करना क्योंकि उस वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सागुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३॥

सूत्रार्थ—स्वभाव से अपवित्र किन्तु रत्नत्रय से पवित्र मुनियों के शरीर से ग्लानी नहीं करना किन्तु उनके गुणों से प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग माना गया है।

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

तपस्विनां यस्तनुमस्तसंस्कृतिं
जिनेन्द्रधर्मं सुतरां सुदुष्करम्।
निरीक्षमाणो न तनोति निंदनं
स भण्यते धन्यतमोऽचिकित्सकः ॥७५॥

सूत्रार्थ—जो तपस्विन के मलिन शरीरकूं देख तथा अति कठिन जिनेन्द्र भाषित धर्म कों देखि निन्दा को नाहीं विस्तारे है सो जीव विचिकित्सारहित अतिशयकर धन्य कहिये है। अर्थात् तपस्वीन के मलिन-शरीर कूँ देखकैं तथा अनशनादि घोर तप देख करि ग्लानि नहीं करणीं सो निर्विचिकित्सा नाम सम्यक्त्व का अंग जानना।

आठवां अवान्तर अधिकार

अमूढ़दृष्टि अंग सूत्र १३५६ से १५४२ तक १८७

अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥१३५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन से सुशोभित अमूढ़दृष्टि वह है जिससे आत्मा रूपी शरीर के शोभायमान होने पर यह सम्यग्दर्शन जीव में शोभायमान होता है।

तत्त्व अमूढ़ता सूत्र १३५७ से १३६० तक ४

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढ़दृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥१३५७॥

सूत्रार्थ—अतत्त्व में तत्त्व श्रद्धान को मूढ़दृष्टि कहते हैं क्योंकि यह उसका अपना लक्षण है। वह मूढ़दृष्टि जिस जीव के नहीं है वह जीव अमूढ़दृष्टि कहा गया है।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैः मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥१३५८॥

सूत्रार्थ—झूठे हेतु और झूठे दृष्टान्तों के द्वारा जो झूठा पदार्थ अन्यमतियों के द्वारा साधा जाता है वह (झूठा पदार्थ) भी उस सम्यग्-दृष्टि में मोह उत्पन्न करने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि उसके दर्शन मोह के उदय का अभाव है।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्वहुश्रुतः ॥१३५९॥

सूत्रार्थ—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ के मिथ्यादृष्टियों के द्वारा दिखलाये जाने पर भी थोड़े श्रुत का जानने वाला वह सम्यग्दृष्टि भी मोहित नहीं होता, यदि बहुत श्रुत का जानने वाला हो तो कहना ही क्या ? अर्थात् वह तो मोहित हो ही नहीं सकता।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥१३६०॥

सूत्रार्थ—उन सूक्ष्मादि अर्थाभास में भी जब यथार्थ में सम्यग्-दृष्टि के मूढ़ता नहीं होती तो फिर स्थूल, पार्श्ववर्ती और वर्तमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या पदार्थ में इसके भ्रम किस कारण से हो सकता है। नहीं हो सकता।

लोकमूढ़ता सूत्र १३६१ से १३६२ तक २

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नानाविकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथानिष्टफलप्रदा ॥१३६१॥

सूत्रार्थ—वह इस प्रकार अनेक विकल्प रूप से लौकिकी रूढि है जो निस्सार पुरुषों द्वारा आश्रित है तथा अनिष्ट फल को देने वाली है।

अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥१३६२॥

सूत्रार्थ—फल रहित, खोटे फल वाली, हेतुरहित, सम्बंधरहित लौकिकी रूढ़ि किन्हीं के द्वारा खोटे कर्म के उदय में कठिनता से छोड़ने योग्य है।

देवमूढ़ता सूत्र १३६३ से १३६७ तक ५

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता ॥१३६३॥

सूत्रार्थ—इस लोक में जो अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्म बुद्धि अगुरु में गुरु बुद्धि है, वह देवादिमूढ़ता कही गई है।

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥१३६४॥

सूत्रार्थ—खोटी बुद्धि वाला (मिथ्यादृष्टि) इस लोक सम्बन्धी कल्याण के लिये खोटे देवों के आराधन को करता है। झूठा लोक-उपचार होने से लोकमूढता अकल्याणकारी है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह ।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥१३६५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—इस लोक में किन्हीं २ को लोक मूढता के वश से ऐसा श्रद्धान है कि भले प्रकार आराधन की गई अम्बिका देवी निश्चय से धन-धान्य को देने वाली है ।

अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥१३६६॥

सूत्रार्थ—अन्य भी खोटी बुद्धि वाले जीव बुद्धि के दोष के कारण (अज्ञानता से) दोषयुक्त देवों को भी निर्दोष देवों की तरह अपनी २ इच्छानुसार मानते हैं ।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसंगादपि संगतः ।
लब्धवर्गो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥१३६७॥

सूत्रार्थ—प्रसंगानुसार सुसंगत होने हुवे भी उन कुदेवों का कथन नहीं कहा गया है। बुद्धिमान् पुरुष व्यर्थ ग्रन्थ के विस्तार को नहीं करते ।

धर्म मूढता

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥१३६८॥

सूत्रार्थ—कुदेवों का जितना भी आराधन उद्यम है; वह अधर्म है । उनके द्वारा बताए हुवे धर्मों के विषय में वचन काय मन की जो जो चेष्टा है वह सब अधर्म है ।

गुरु मूढ़ता सूत्र १३६९ से १३७० तक २

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥१३६९॥

सूत्रार्थ—कुगुरु खोटे आचरण वाला, शल्यसहित, परिग्रह सहित होता है क्योंकि सम्यक्त्व से और व्रत से भी युक्त ही सद्गुरु ही होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोऽतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥१३७०॥

सूत्रार्थ—यहां नाम-मात्र भी श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि सब प्रकार से बहुत विस्तार है। यहां आगे कही गई विधि उपादेय है और नहीं कही हुवी वह ही विधि उपादेय नहीं है।

भावार्थ—श्री अमृतचन्द्र जी को सदा अस्ति से ही लिखने का शौक है। कहते हैं कि यदि हम चाहें तो यहां प्रकरणवश सब खोटे देवों, गुरुवों और धर्मों का सविस्तार वर्णन कर सकते हैं पर हम देव गुरु धर्म की अस्तिविधि बतला देते हैं। उसके अतिरिक्त किसी को भी देव गुरु धर्म मानना मूढ़ता है। और सम्यग्दृष्टि केवल आगे बतलाए जाने वाली अस्ति विधि को ही मानता है अतः वह अमूढ़दृष्टि अंग का धारी है।

देव का सामान्य स्वरूप सूत्र १३७१ से १३७४ तक ४

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं कर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥१३७१॥

सूत्रार्थ—दोष रागादि का सद्भाव और वह आवरण कर्म है। जहां (जिस जीव में) उन दोनों का (रागादिभाव का और ज्ञानावरणादि आवरण (कर्म का) सम्पूर्णतया अभाव है, वह देव कहा जाता है।

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥१३७२॥

सूत्रार्थ—इस (देव) में केवल ज्ञान, क्षायिक दर्शन क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य-इस प्रकार प्रसिद्ध अनन्तचतुष्टय है।

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्थाविशेषतः ।
संख्येया नामसंदर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥१३७३॥

सूत्रार्थ—वह देव सामान्य से एक प्रकार का है। अवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशेष से दो प्रकार का है। नाम रचना से संख्यात प्रकार का है। गुणों से अनन्त प्रकार का है।

एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः।
अर्हन्निति सिद्धश्च पर्यायार्थाद् द्विधा मतः ॥१३७४॥

सूत्रार्थ—द्रव्यार्थिक नय से वह देव एक प्रकार है जो शुद्ध आत्मा की पूर्ण प्राप्ति से सिद्ध हो चुका है (अर्थात् जिसको स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी है)। वही देव अरहन्त और सिद्ध पर्यायार्थिक नय से दो प्रकार माना गया है।

अरहन्त देव का सामान्य स्वरूप

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥१३७५॥

सूत्रार्थ—जो दिव्य औदारिक शरीर में स्थित है, धो दिये हैं घातिया चार कर्म जिसने, ज्ञान दर्शन वीर्य सौख्य का स्थान है, वह अरहन्त है। यह धर्म का उपदेशक है।

श्रीनियमसार जी में कहा है

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइ परमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

सूत्रार्थ—घनघातिकर्म रहित[1], केवलज्ञानादि परम गुणों सहित[2] और चौतीस अतिशय संयुक्त[3];—ऐसे अरहन्त होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

णट्ठचदुघाइकम्मो दंसणसुहणाणवीरियमईओ।
सुहदेहत्थो अप्पा सुद्धो अरिहो विचिंतिज्जो ॥५०॥

सूत्रार्थ—नष्ट कर दिये हैं चार घातिया कर्म जिसने[1], शुभ देह में स्थित[2], शुद्ध[3], दर्शन-सुख-ज्ञान-वीर्यमय[4], आत्मा अरहन्त ध्यान करने योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध देव का सामान्य स्वरूप

मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥१३७६॥

सूत्रार्थ—जो मूर्तिक शरीर से रहित है, सब पदार्थों का युगपत् जानने देखने वाला है, लोक के अग्रभाग में ठहरा हुवा है, ज्ञानादि-आठ गुणयुक्त है, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित है, वह सिद्ध नाम का देव है ।

श्रीनियमसार जी में कहा है

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

सूत्रार्थ—आठ कर्मों के बन्ध को जिसने नष्ट कर दिया है ऐसा[1] आठ महा गुण सहित[2], परम[3], लोक के अग्र भाग में स्थित[4], और नित्य[5];—ऐसे वे सिद्ध होते हैं ।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

णट्ठट्ठकम्मदेहो लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोएसिहरत्थो ॥५१॥

सूत्रार्थ—नाश कर दिये हैं आठ कर्म और शरीर को जिसने[1], लोक अलोक के ज्ञाता द्रष्टा[2], पुरुषाकार[3], लोक के शिखर में स्थित[4], आत्मा सिद्ध ध्याओ ।

अरहन्त देव का विशेष स्वरूप सूत्र १३७७ से १३८४ तक ८

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽपि सुखावहात् ॥१३७७॥

सूत्रार्थ—'अर्हत्' है क्योंकि जगत पूज्य है; जिन है क्योंकि कर्म रूपी शत्रुओं को नाश कर दिया है; महादेव है क्योंकि देवाधिदेव हैं, शङ्कर है क्योंकि सुख का स्थान है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन ।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दु:खापनोदनात् ॥१३७८॥

सूत्रार्थ—'विष्णु' है क्योंकि ज्ञान से किसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों के विस्ताररूप है। ब्रह्मा है क्योंकि आत्मा के स्वरूप जानने वाला है। हरि है क्योंकि दु:खों के दूर करने वाला है।

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्य स्यात्सिद्धसाधनात् ॥१३७९॥

सूत्रार्थ—इत्यादि अनेक नाम वाला होने पर भी अनेक नहीं है क्योंकि उसका निजलक्षण एक ही है। वह अनन्तगुणात्मक एक द्रव्य है यह सिद्ध साधन है।

चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वत: ॥१३८०॥

सूत्रार्थ—(अनादिकाल से) चौबीस इत्यादि अन्त पर्यन्त (भावि अनन्त काल तक) अनन्तता है (संख्या में अनन्त देव होते हैं) किन्तु वह बहुत्व दोष के लिये नहीं है क्योंकि (उन सबमें) देवपना एक प्रकार का है।

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥१३८१॥

सूत्रार्थ—प्रदीपों का अनेकपना दीपकपने की हानि के लिये नहीं है। क्योंकि यहां एक प्रकारता है। नानाप्रकारता नहीं है।

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनन्तधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥१३८२॥

सूत्रार्थ—न्यायानुसार एक २ गुण की मुख्यता से देव का एक २ नाम भिन्न २ हो जायेगा इसलिये यथासंख्य रीति से नामों की अपेक्षा से भी तो देव अनन्त प्रकार होना चाहिये—ऐसी भी आशंका नहीं करनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये क्योंकि—

नामतो सर्वतो मुख्यसंख्यातस्यैव सम्भवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्याऽव्यवहारस्य दर्शनात् ॥१३८३॥

सूत्रार्थ—क्योंकि शब्द की अपेक्षा को विषय करने वाले नाम की अपेक्षा से अधिक से अधिक उत्कृष्ट संख्यात तक ही नाम हो सकते हैं। उस उत्कृष्ट संख्यात से अधिक शब्द की अपेक्षा से कभी भी प्रतिपादन नहीं देखा जाता है।

वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥१३८४॥

सूत्रार्थ—इसलिये वृद्ध आचार्यों के द्वारा सूत्र में यह कहा गया है कि तत्त्व वचनातीत है। और जो द्वादशांग तथा अङ्गबाह्य श्रुत रूप है वह तो स्थूल पदार्थ को विषय करने वाला है।

सिद्ध देव का विशेष स्वरूप १३८५ से १३८६ तक २

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥१३८५॥

सूत्रार्थ—(सिद्ध में) सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से ज्ञान है, क्षायिक दर्शन है और अतीन्द्रिय सुख है। आत्म से उत्पन्न (अनन्त) वीर्य है इस प्रकार अनन्त चतुष्टय है।

सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अप्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्ट गुणाः स्मृताः ॥१३८६॥

सूत्रार्थ—और सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधगुण, अगुरुलघुत्व, सिद्ध में ये आठ गुण स्वतः माने गये हैं।

देव का उपसंहार

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥१३८७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—इत्यादि अनन्त गुणों का स्थान, आठ कर्मों से रहित (सिद्ध देव हैं) और अठारह दोषों से रहित (अरहन्त) देव है। यह देव सेवन करने योग्य है। दूसरा नहीं।

गुरु का सामान्य स्वरूप सूत्र १३८८ से १४१२ तक २५

अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥१३८८॥

सूत्रार्थ—वास्तव में गुरु वह (अरहन्त) ही है क्योंकि मोक्ष मार्ग का उपदेशक है। और वही भगवान् है क्योंकि साक्षात् मोक्ष के मार्ग का नेता है।

भावार्थ—अरहन्त भगवान् को परमगुरु कहते हैं और शेष छठे से बारहवें गुणस्थान के छद्मस्थ जीवों को (अर्थात् आचार्य उपाध्याय साधुओं को) अपर गुरु कहते हैं। गुरु में सम्यक्त्व, चारित्र तथा बाह्य अभ्यन्तर दिगम्बरत्व अवश्य चाहिये। उसके बिना गुरु नहीं होता। गुरु में उपदेश की मुख्यता होती है क्योंकि जो अपने कल्याण में निमित्त पड़े उसे गुरु कहते हैं सो ग्रन्थकार कहते हैं कि अरहन्त भगवान् तो साक्षात् दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देकर जीव का हित करते हैं। नेता को भी गुरु कहते हैं सो वे तो साक्षात् मोक्षमार्ग के नेता हैं।

तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥१३८९॥

सूत्रार्थ—उन (अरहन्तों) से पहले भी उस (अरहन्त) रूप के धारण करने वाले छद्मस्थरूप गुरु हैं गुरु के न्याय से। अन्य गुरु नहीं हैं क्योंकि वे भिन्न प्रकार की अवस्था को धारण करने वाले हैं (बाह्य अभ्यन्तर दिगम्बरत्व को धारण करने वाले अरहन्त के रूप के धारी कहलाते हैं। अतः वे भी गुरु हैं। यही उन के गुरुपने में युक्ति है। अन्य भेषधारी गुरु नहीं हो सकता)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥१३९०॥

सूत्रार्थ—यहां (इस गुरुपने में) अवस्था विशेष (कारण) है जो युक्ति-स्वानुभव और आगम से सिद्ध है। शेष संसारी जीवों से उन के ही अतिशयपना पाया जाता है (गुरुपने में कारण छठें, सातवें से होने वाला आत्मानुभव और वीतराग विज्ञानता है। अतः उनके समस्त संसारियों से विशेषता है। श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय सूत्र १६ में उसको अलौकिकी वृत्ति कहा है)।

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥१३९१॥

सूत्रार्थ—भाविनैगमनय के आधीन, आगे होने वाला, हुवे हुवे के समान कहा जाता है और यह ठीक ही है क्योंकि भाव से व्याप्ति का सद्भाव पाया जाने से साधन सिद्ध है अर्थात् छठे से बारहवें के जीव नियम से अरहन्त होंगे। अतः उन्हें भावि नैगम नय से अभी भी गुरु कहने में कोई दोष नहीं है। न्याय संगत ही है। पर छठे से नीचे के जीव में अरहन्तरूपता न होने से गुरु कहने में दोष है।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥१३९२॥

सूत्रार्थ—मिथ्यात्व कर्म की उपशान्ति (अनुदय) से उन में सम्यग्दर्शन है। और चारित्र मोहनीय के नाश से एक देश रूप से सम्यक् चारित्र है इससे स्पष्ट है कि द्रव्यलिंगी गुरु नहीं होते तथा छठे से नीचे के सम्यग्दृष्टि भी गुरु नहीं होते।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् ।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥१३९३॥

सूत्रार्थ—इसलिये (उन गुरुवों में) निश्चय करके स्वभाव से और हेतु देखे जाने से शुद्धपना सिद्ध है क्योंकि मोह कर्म के उदय का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभाव होने से उसके कार्य (रागादि भाव) की भी असंभवता है। छठे से जितना राग का अभाव है उस से यहां आशय है। अब उस गुरुपने का कारण बतलाते हैं।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥१३९४॥

सूत्रार्थ—वह शुद्धपना सुप्रसिद्ध है और वास्तव में निर्जरा का कारण है। संवर का भी कारण है और क्रम से मोक्ष भी देने वाला है।

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥१३९५॥

सूत्रार्थ—अथवा वास्तव में वह शुद्धपना ही स्वयं निर्जरादि त्रय-रूप (संवर-निर्जरा-मोक्ष) है क्योंकि शुद्ध भावों में अविनाभावी द्रव्य नामा (आत्मा) उन तीन रूप है।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥१३९६॥

सूत्रार्थ—चैतन्य आत्मा का जो शुद्ध भाव है वह निर्जरादि का कारण है। वह ही परम पूज्य है। उस शुद्धभाव से युक्त आत्मा परम गुरु है।

प्रमाण—उपर्युक्त तीन सूत्रों का भाव श्रीप्रवचनसार जी के इस सूत्र से लिया गया है:—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥

सूत्रार्थ—शुद्ध के (शुद्धोपयोगी के) श्रामण्य कहा है, शुद्ध के दर्शन और ज्ञान कहा है, शुद्ध के निर्वाण होता है, उसी प्रकार शुद्ध ही सिद्ध होता है, उसके लिये नमस्कार है।

न्यायाद् गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मोक्षस्य नेतरः ॥१३९७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ--न्याय से गुरुत्वपने में कारण केवल दोषों का क्षय हो जाना है क्योंकि जो निर्दोष है वह जगत का साक्षी है और वह ही मोक्ष का नेता है दूसरा नहीं (दोषयुक्त नहीं) (जब तक जीव छठे गुण-स्थान से नीचे है तब तक इतना वीतरागी नहीं होता जितनी वीतरागता की कि गुरुपने के लिये आवश्यकता है। सब में मध्यस्थ भाव का धारी ही गुरु हो सकता है)।

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥१३९८॥

सूत्रार्थ—मुनि की यह छद्मस्थता भी गुरुपने की हानि के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि रागादि-अशुद्ध भावों का कारण केवल वह एक मोह कर्म ही है।

शंका

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥१३९९॥

शंका—आवरण द्वय कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण) और वीर्य को नाश करने वाला कर्म (वीर्यान्तराय कर्म) वहां (उन गुरुवों में) भी अवश्य है। फिर यहां शुद्धपना वास्तव में किस हेतु से है ?

भावार्थ—शिष्य तेरहवें गुणस्थान की शुद्धता को ही शुद्धता मानता है और उसी शुद्धता को गुरुत्व में कारण मानता है। छद्मस्थों में गुरुत्व नहीं मानता।

समाधान सूत्र १४०० से १४०४ तक ५

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥१४००॥

सूत्रार्थ—ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मों का बंध, सत्त्व, उदय, क्षय मोह कर्म से अविनाभूत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात् ।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥१४०१॥

सूत्रार्थ—वह इस प्रकार है कि—इस (मोह कर्म) के बंध होने पर उस (ज्ञानावरणादि) का बंध होता है क्योंकि इनका बन्धन मोह के बन्ध के आधीन है। उस मोह के सत्त्व पर इनका सत्त्व है, इसके उदय पर उनका उदय है, और इसके क्षय पर उनका क्षय है अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा वीर्यान्तराय, मोहनीय से हर प्रकार से अविनाभूत है।

नोह्य छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥१४०२॥

सूत्रार्थ—ऐसा विचार नहीं करना चाहिये कि छद्मस्थ अवस्था में ज्ञानावरणादि क्षय होने से पहले ही उस मोह कर्म का क्षय होता है किन्तु मोह कर्म का अंश रूप से क्षय होने पर ज्ञानावरणादि का भी अंश रूप से क्षय होता है। और मोह कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने से ज्ञानावरणादि का भी सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥१४०३॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि के ज्ञानावरणादिक सम्पूर्ण कर्मों का निर्जरा रूप तत्त्व असिद्ध नहीं है क्योंकि दर्शन मोह के उदय का अभाव होने तक वह निर्जरा तत्त्व भी क्रम से (उत्तर उत्तर) असंख्यात् गुणा माना गया है।

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥१४०४॥

सूत्रार्थ— इसलिये यद्यपि अब (इस अवस्था में—छद्मस्थ वीतराग गुरुओं में) ऊपर कहे हुवे ज्ञानावरणादिक तीनों ही कर्मों का सद्भाव पाया जाता है तथापि राग, द्वेष और मोह के अभाव से गुरुपना माना ही जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—समाधान का सार यह है कि गुरुत्वपने के लिये जितने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम की आवश्यकता है उतना क्षयोपशम एकदेश (मोह के अभाव के अविनाभाव कारण से उन के होता ही है।

अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात् त्रिधा गुरुः ।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥१४०५॥

सूत्रार्थ—अब वह गुरु सामान्यरूप से एक प्रकार का है और सत्विशेष से तीन प्रकार का है जैसे कि एक भी अग्नि तृण की आग, पत्र की आग, तथा लकड़ी की आग, तीन प्रकार की कही जाती है।

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥१४०६॥

सूत्रार्थ—गुरु आचार्य, उपाध्याय, साधु ऐसे तीन प्रकार माना गया है। (तीनों) विशिष्ट पदों में आरूढ़ हैं और तीनों ही मुनि कुंजर (मुनिवर श्रेष्ठ) मुनि हैं।

एको हेतुः क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥१४०७॥

सूत्रार्थ—(उन तीनों का) एक हेतु (कर्मों की अवस्था) है, क्रिया भी एक है, और वेष भी एक है, बहिरंग भी एकसा है तथा बारह प्रकार का तप एक सा है और पांच प्रकार का महाव्रत भी एकसा है।

त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोऽप्येकधा मतः ॥१४०८॥

सूत्रार्थ—तेरह प्रकार का चारित्र एकसा है तथा समता एक प्रकार की है, और मूल तथा उत्तर गुण एकसे हैं, और संयम भी एक प्रकार का माना गया है।

परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥१४०९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—तथा परीषह और उपसर्गों का सहन भी एकसा माना गया है। तथा आहारादि की विधि एक है। चर्या, शय्या, आसन इत्यादिक एक से हैं।

मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥१४१०॥

सूत्रार्थ—उन तीनों के मोक्ष का मार्ग अर्थात् आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय जो अन्तरंग और बहिरंग में स्थित है, समान है।

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात्।
चतुर्धाऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥१४११॥

सूत्रार्थ—ध्याता, ध्यान, ध्येय और ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी समान है। चार प्रकार की आराधना भी बराबर है और क्रोधादि की जयशीलता भी समान है।

किं वात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते।
विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥१४१२॥

सूत्रार्थ—इस विषय में बहुत कहने से क्या, उनका विशेष (लिखना) अवशिष्ट (बाकी) रहता है। विशेष से बाकी बचा शेष सब न्याय से विशेष रहित (एक जैसा) है। अर्थात् उनमें जो अन्तर है उसका आगे निर्देश कर देते हैं। उस अन्तर के अतिरिक्त शेष सब समानता ही है।

गुरु का सामान्य स्वरूप समाप्त हुवा

१. आचार्यगुरु का स्वरूप सूत्र १४१३से १४२६ तक १४

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥१४१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—आचार्य अनादि रूढ़ि से और योग से (निरुक्ति-अर्थ से) भी कहा जाता है। जो दूसरों के लिये पंचाचार को आचरण कराता है वह संयमी (आचार्य) है।

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥१४१४॥

सूत्रार्थ—और जो व्रत के खण्ड होने पर फिर से उस व्रत में जुड़ने को चाहने वाले साधु के उसका पुनः आदेश देने से प्रायश्चित्त को देता है। वह आचार्य है।

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक्।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥१४१५॥

सूत्रार्थ—आदेश के उपदेशों से जो विशेष है वह भेद रखने वाला है। आदेश में तो 'गुरु के दिये हुवे व्रत को ग्रहण करता हूं' यह विधि है परन्तु उपदेशों में यह विधि नहीं है।

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥१४१६॥

सूत्रार्थ—(आचार्यों के समान) वह आदेश करना व्रतधारी गृहस्थों के भी निषिद्ध नहीं है क्योंकि दीक्षा आचार्य के द्वारा दी हुवी दीक्षा के समान ही वह क्रिया है।

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥१४१७॥

सूत्रार्थ—वह (आदेश) आम्नाय के अनुसार अव्रतियों के थोड़ा भी निषिद्ध है। और किसी भी कारण से हिंसक उपदेश भी उपयुक्त नहीं है।

मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥१४१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—मुनि व्रत धारियों के अथवा गृहस्थव्रतधारियों के द्वारा बध-आश्रित (हिंसा करने वाला) आदेश और उपदेश नहीं किया जाना चाहिये।

न चाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्व हस्तरेखेव दर्शितम् ॥१४१९॥

सूत्रार्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि यह प्रसिद्ध है कि व्रतधारी मुनियों के द्वारा मूर्तिमान् पदार्थों की सम्पूर्ण शक्तियां हाथ की रेखा के समान देख ली गई हैं।

भावार्थ—ऊपर कहा गया है कि व्रती हिंसा का उपदेश नहीं देते। इसपर कोई कहे कि जिस मुनि को अपने दिव्य ज्ञान अवधि या मनःपर्यय या विशिष्ट मति, श्रुत द्वारा यह पता चल जाये कि उस व्यक्ति के ऐसी हिंसक दशा होने वाली है फिर यदि वह उसके बारे में हिंसक उपदेश दे दें तो क्या आपत्ति है ? उसके उत्तर में अगले सूत्र में कहते हैं कि विरागियों का उपदेश रागकारक नहीं हो सकता।

नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम्।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः ॥१४२०॥

सूत्रार्थ—निश्चय से विरागियों का ऊपर कहा हुवा उपदेश भी राग के लिये नहीं है किन्तु रागियों का उपदेश ही राग के लिये होता है। अतः अवश्य निषेध किया गया है।

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥१४२१॥

सूत्रार्थ—निश्चय से सत्पात्र दानों में और अरहन्तों की पूजा में भी न वह आदेश निषिद्ध है और न वह उपदेश निषिद्ध है।

यद्वादेशोपदेशौ द्वौ स्तो निरवद्यकर्मणि।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥१४२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—अथवा वे आदेश और उपदेश दोनों ही हिंसा रहित कार्य में ही होते हैं। जहां हिंसा का लेश भी है वहां आदेश कदापि नहीं है।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥१४२३॥

सूत्रार्थ—आचार्य असंयमी लोगों के साथ संसर्ग, भाषण (बात चीत) और रति (प्रेम व्यवहार) करे ऐसा कोई कहते हैं। (उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि) न वह आचार्य है और न अरहन्त का अनुयायी (जैन) है।

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥१४२४॥

सूत्रार्थ—इस लोक में किन्हीं २ के मत से संघ का संपोषक (भले प्रकार पालन करने वाला) आचार्य कहा गया है (उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि वह ठीक नहीं क्योंकि) इस धर्म के आदेश और उपदेश से अतिरिक्त आचार्य का दूसरा कोई भी उपकार (कर्तव्य) ही नहीं है।

यद्वा मोहात् प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियां ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥१४२५॥

सूत्रार्थ—अथवा जो मोह से अथवा प्रमाद से लौकिक क्रिया को करे, उतने काल तक वह आचार्य भी नहीं है और अन्तरंग में व्रतों से च्युत है।

उक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥१४२६॥

सूत्रार्थ—उक्त व्रत, तप, शील, संयम आदि को धारण करने वाला आचार्य है। नमस्कार करने योग्य है। वह साक्षात् गुरु है। उस से भिन्न न गुरु है और न आचार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीनियमसार जी में कहा है

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा ।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

सूत्रार्थ—पंचाचारों से परिपूर्ण[1], पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलन करनेवाला[2], धीर[3], और गुणगंभीर[4],—ऐसे आचार्य होते हैं ।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरिओ मुणी झेओ ॥५२॥

सूत्रार्थ—दर्शन ज्ञान प्रधान वीर्याचार, चारित्राचार और श्रेष्ठ तपाचार में अपने को और पर को जोड़ते हैं वे मुनि—आचार्य ध्यान करने योग्य हैं ।

उपाध्याय गुरु का स्वरूप सूत्र १४२७ से १४३४ तक ८

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥१४२७॥

सूत्रार्थ—उपाध्याय शंकाओं का समाधान करने वाला है, वाद-विवाद करने वाला, स्याद्वाद् के जानने वाला, सुवक्ता शब्द शास्त्र (द्वादशांग) सर्वज्ञ, सिद्धान्त और आगमों का पारगामी है ।

कविर्वृत्त्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥१४२८॥

सूत्रार्थ—उपध्याय कवि है क्योंकि वार्तिक पूर्वक सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाला है अर्थ की मधुरता को जानने वाला है, वक्तृत्व के मार्गों का अग्रणी है ।

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥१४२९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—उपाध्यायपने में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है। जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही गुरु (उपाध्याय) है।

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥१४३०॥

सूत्रार्थ—उस (उपाध्याय) में व्रतादिकों की शेष विधि सर्व साधारण है। वह उपाध्याय धर्म-उपदेश को करता है किन्तु आचार्य की तरह किसी भी विषय में आदेश नहीं करता है।

तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरिणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥१४३१॥

सूत्रार्थ—उन आचार्यों के ही आश्रम को, लिंग को, तप को, शुद्ध चारित्र को, और पंचाचार को वह शुद्ध बुद्धि (उपाध्याय) आश्रय करता है।

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥१४३२॥

सूत्रार्थ—उपाध्याय जैसे शास्त्रों में कहे हैं वैसे मूल उत्तर गुणों को भी चिरकाल तक पालन करता है। वह परीषह और उपसर्गों का जीतने वाला और इन्द्रियों को वश में करने वाला होता है।

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥१४३३॥

सूत्रार्थ—इस विषय में अधिक विस्तार से बस, जो निश्चय से मुनि का अन्तरंग और बहिरंग शुद्धवेष धारण करने वाला, धीरवीर, निर्ग्रन्थ और गण में अग्रणी है, वह उपाध्याय है।

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥१४३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—उपाध्याय का भले प्रकार वर्णन किया गया जो अपने लक्षणों से विख्यात है। अब साधु का लक्षण सिद्ध किया जाता है जो आगम से सिद्ध है।

प्रश्न—उपाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो वादित्व (वाद में जीतने की शक्ति), वाग्मित्व (उपदेश देने में कुशलता), कवित्व (कविता करने की शक्ति) गमकत्व (टीका करने की शक्ति) इन चार गुणों में प्रवीण हों और द्वादशांग के पाठी हों। इन में शास्त्राभ्यास करना, कराना, पढ़ना, पढ़ाना मुख्य है। इसलिये साधुओं के २८ मूलगुणों के सिवाय ११ अंग और १४ पूर्व का पाठीपना इसप्रकार २५ गुण और भी उपाध्याय में होते हैं।

श्रीनियमसार जी में कहा है

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

सूत्रार्थ—रत्नत्रय से संयुक्त[1], जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक[2], और निःकांक्षभाव सहित[3];—ऐसे उपाध्याय होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स ॥५३॥

सूत्रार्थ—जो रत्नत्रययुक्त है[1], नित्य धर्मोपदेश देने में रत है[2], यतियों में श्रेष्ठ में श्रेष्ठ है[3], वह आत्मा उपाध्याय है, उस के लिये नमस्कार हो।

साधु गुरु का स्वरूप सूत्र १४३५ से १४४२ तक ८

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥१४३५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-पूर्वक होता है और जो मोक्ष का मार्ग है ऐसे चारित्र को, जो आत्मा की सिद्धि के लिये साधता है वह साधु है। इस प्रकार अन्वर्थ नामधारी है।

नोच्याच्चायं यमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥१४३६॥

सूत्रार्थ—यह साधु कुछ नहीं बोलता (वचन निरोध) हाथ पैर आदि के संकेत से कुछ नहीं दर्शाता अर्थात् (किसी बात का इशारा नहीं करता (काय निरोध) और मन से भी कुछ नहीं चिन्तवन करता (मन निरोध) किन्तु स्व (आत्मा) में स्थित रहता है।

आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम्।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरंगाब्धिवन्मुनिः ॥१४३७॥

सूत्रार्थ—और वह साधु केवल शुद्ध आत्मा में लीन रहता है और तरंग रहित समुद्र की तरह जिसका अन्तरंग और बहिरंग वचन-व्यवहार रुक गया है ऐसा है।

नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥१४३ ॥

सूत्रार्थ—वह साधु स्वर्ग और मोक्षमार्ग का किंचित् भी न तो आदेश और न उपदेश ही करता है तो फिर उस (स्वर्ग और मोक्षमार्ग) से विपरीत मार्ग के (आदेश उपदेश आदि के) बारे में कहना ही क्या। (वह तो करता ही नहीं)।

वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥१४३९॥

सूत्रार्थ—वैराग्य की पराकाष्ठा को (चरम सीमा को) प्राप्त है अधिक प्रभा युक्त है, दिगम्बर है, यथाजातरूप को धारण करने वाला (नग्न) है और दया में तत्पर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या, तपस्वी स तपोंशुभिः ॥१४४०॥

सूत्रार्थ—वह साधु निर्ग्रन्थ है, अन्तरंग और बहिरंग मोह की गांठ को खोलने वाला है यमी है, गुणश्रेणी क्रम से कर्मों की निर्जरा करने वाला है, और तप रूपी, किरणों से तपस्वी है।

परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥१४४१॥

सूत्रार्थ—परीषह और उपसर्ग आदि के द्वारा पराजित नहीं होने वाला है, जीत लिया है कामदेव को जिसने ऐसा है, भोजनशुद्धि से पूर्ण शुद्ध है। प्रत्याख्यान (त्याग) में परायण (तत्पर) है।

इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥१४४२॥

सूत्रार्थ—इत्यादिक अनेक प्रकार के अनेक अच्छे २ गुणों से युक्त है। वह महान् साधु मोक्ष की प्राप्ति के लिये विद्वानों (ज्ञानियों) के द्वारा अवश्य नमस्कार करने योग्य है, दूसरा नहीं।

श्री नियमसार जी में कहा है

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

सूत्रार्थ—व्यापार से विमुक्त (समस्त व्यापार रहित)[1], चतुर्विध आराधना में सदा रक्त[2], निर्ग्रन्थ[3] और निर्मोह[4]; —ऐसे साधु होते हैं।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥५४॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण, नित्यशुद्ध, मोक्ष के मार्गभूत चारित्र को निश्चय से जो साधता है वह मुनि साधु है, उसके लिये नमस्कार हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुओं में परस्पर विशेषता सूत्र १४४३ से १४८२ तक ४०

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥१४४३॥

सूत्रार्थ—इस प्रकार महानों के भी महान् मुनित्रय कहे तथापि तरतमरूप से उन में विशेष (अन्तर) है। वह अन्तर क्रम से इस प्रकार है।

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
न्यायाद्वादेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥१४४४॥

सूत्रार्थ—उन तीनों आचार्य प्रसिद्ध है और दीक्षा तथा आदेश (आज्ञा) देने में गुण (मुनि समूह) में अग्रेसर है। अपनी आत्मा में तत्पर (स्थित) है। यह न्याय से (युक्ति से), आदेश से (आगम से) और अध्यक्ष से (स्वानुभव से) सिद्ध है।

अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥१४४५॥

सूत्रार्थ—वास्तव में यह (अपनी आत्मा में) अतत्पर (अस्थित) नहीं है क्योंकि दर्शनमोह के अनुदय का सद्भाव है। उससे (दर्शनमोह के अनुदय से) अविनाभावी शुद्धात्मानुभव स्पष्टतया पाया जाता है।

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः ।
बाह्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥१४४६॥

सूत्रार्थ—और उस शुद्ध आत्म अनुभव में चारित्रावरण (चारित्र मोहनीय) कर्म का एक देश रूप से क्षय भी कारण है। केवल बाह्य पदार्थ से उस (शुद्धात्मानुभव) की क्षति अथवा उस (शुद्धात्मानुभव) की अक्षति नहीं होती है।

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥१४४७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—उपादान कारण से (अन्तरंग कर्म के उदय अनुदय से) उस शुद्धात्मानुभव की क्षति अथवा शुद्धात्मानुभव की अक्षति होती है। (जिस समय अपने इस उपादान हेतु से शुद्धात्मानुभव की क्षति वा अक्षति होती है) उस समय भी बाह्य वस्तु (दीक्षा-आदेश-उपदेश-आदि) उस शुद्धात्मानुभव की क्षति या अक्षति में कारण नहीं है क्योंकि वह बाह्य वस्तु उस क्षति अक्षति में अकारण है।

सन्ति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्धका देशघातिनः।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद् द्वयोः ॥१४४८॥

सूत्रार्थ—संज्वलन कषाय के देशघाति वास्तविक स्पर्द्धक हैं। उनका तीव्र वा मन्द विपाक होता है। वही क्रम से क्षति और अक्षति इन दोनों में कारण है।

संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः।
सोऽपि तरतमस्त्रांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥१४४६॥

सूत्रार्थ—निश्चय से उस शुद्ध आत्मानुभव की क्षति संक्लेश है और उस शुद्ध आत्मानुभव की अक्षति तो विशुद्धि है। वह संक्लेश और विशुद्धि भी अपने तरतम रूप अंशों की अपेक्षा अनेक प्रकार की है। और यह तरतमरूप अंश भी अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा अनेक प्रकार के हैं।

अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥१४५०॥

सूत्रार्थ—वहां (उस शुद्धात्मानुभव में) हेतु (संज्वलन के तीव्र मन्द उदय) के वश से शिथिलता होवे अथवा मत होवे तथापि इतने मात्र से आचार्य आत्मा में अतत्पर सिद्ध नहीं है।

तत्रावश्यं विशुद्धयंशस्तेषां मन्दोदयादिति।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥१४५१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—उस शुद्धात्मानुभव में उन (संज्वलन) के मन्द उदय से विशुद्धि अंश अवश्य है अथवा उनके तीव्र उदय से संक्लेश अंश अवश्य है। उस संक्लेश और विशुद्धि में यह विधि (बहिरंग क्रिया का सद्भाव या असद्भाव कारण) नहीं मानी गई है।

किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः क्लेशांशोऽथवा क्वचित्।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥१४५२॥

सूत्रार्थ—किन्तु दैव से कभी विशुद्धि-अंश अथवा कभी संक्लेश अंश पाया जाता है। उस (कर्म) की विशुद्धि से विशुद्धि अंश है और फिर संक्लेश अंश का उदय (प्रगटता) हो जाता है।

तेषां तीव्रोदयस्तावदेतावानत्र बाधकः।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोऽपरोऽस्त्यतः ॥१४५३॥

सूत्रार्थ—उन संज्वल कषायों का जो तीव्र उदय है बस इतना मात्र इस शुद्धात्मानुभव में बाधक है। और वही सर्वथा प्रकोप के लिये (आत्म अतत्परता के लिये) कारण है यदि ऐसा कहा जाय तो इससे और कोई बड़ा अपराध नहीं है।

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥१४५४॥

सूत्रार्थ— इसलिये इतना मात्र हेतु वास्तव में शुद्ध की अनुभव च्युति करने के लिये समर्थ नहीं है। क्योंकि यहां (शुद्ध आत्मा के अनुभव से सर्वथा च्युत करने में) अन्य (कर्म) कारण है।

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः॥
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥१४५५॥

सूत्रार्थ—शुद्ध आत्मा के ज्ञान में (अनुभव में) कारण मिथ्यात्व-कर्म का अनुदय है और उसमें वास्तविक बाधक तो मिथ्यात्व का शान्त न होना (उदय) है। क्योंकि उस मिथ्यात्व का उदय होते ही उस शुद्धात्मानुभव का नाश हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥१४५६॥

सूत्रार्थ—दर्शनमोह के अनुदय होने पर पुरुष के शुद्ध (आत्मा) का अनुभव होता है। (शुद्ध-अनुभव में) कोई भी चारित्रावरण का उदय विघ्न करने वाला नहीं होता।

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः ।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्य कृते च तत् ॥१४५७॥

सूत्रार्थ—इस का आशय यह नहीं है कि चारित्रावरण का उदय अकिंचित्कर है। वह दर्शनमोह का कार्य करने में समर्थ नहीं है और वह अपने कार्य के करने में समर्थ है।

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥१४५८॥

सूत्रार्थ—चारित्रमोह का कार्य आत्मा की चारित्र से च्युति है किन्तु आत्मदृष्टि (श्रद्धा) से च्युति नहीं है क्योंकि वह दृष्टि है (अर्थात् दृष्टि (श्रद्धा) गुण; चारित्र गुण से भिन्न है) न्याय से दूसरी आंख की तरह

भावार्थ—यदि एक आंख से दीखना बन्द हो जाय तो दूसरी से दीखना बन्द नहीं होता इसी प्रकार चारित्रावरण के उदय से चारित्र की च्युति है किन्तु दृष्टि की च्युति नहीं, दृष्टि की च्युति तो दर्शनमोह से है।

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥१४५९॥

सूत्रर्थ—जैसे किसी की दैवयोग से एक आंख बिल्कुल ठीक है। तो दूसरी आंख में दुःख होने पर भी उस आंख की हानि प्रत्यक्ष में नहीं देखी जाती है।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥१४६०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जितना कषायों का अनुद्रेक (अनुदय) है। उतना ही वास्तव में चारित्र है। जितना कषायों का अनुद्रेक नहीं है उतनी आत्मा की चारित्र से च्युति है।

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥१४६१॥

सूत्रार्थ—उनका (चारित्रावरण का) अनुद्रेक या उद्रेक स्वतः होता है। इसलिये दर्शनमोह के उदय के बिना वास्तव में आत्मदृष्टि की क्षति नहीं है।

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।
साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥१४६२॥

सूत्रार्थ—आचार्य उपाध्याय ये दोनों हेतुपूर्वक समान हैं, साधु हैं, और साधु की तरह आत्मज्ञानी हैं, शुद्ध हैं और शुद्धोपयोगी हैं।

नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति तयोस्तरतमो मिथः।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥१४६३॥

सूत्रार्थ—उन दोनों में (आचार्य उपाध्याय में) तरतम रूप से आपस में कोई विशेष नहीं है। और इन दोनों से साधु का अन्तरुत्कर्ष अतिशयपने से नहीं है।

लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥१४६४॥।

सूत्रार्थ—यदि उनके आपस में लेशमात्र भी विशेष है तो बहिर्वस्तु कृत क्योंकि मूल कारण से (कर्म अनुदय से) होने वाली शुद्धि की समानता होने से बहिरंग क्रिया वा बहिरंग वस्तु से चारित्र की क्या क्षति हो सकती है?

नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥१४६५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—उन आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में युक्ति, स्वानुभव और आगम से उन संज्वलन कषाय के स्पर्द्धकों का कोई मन्द आदि उदय नियत नहीं है।

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥१४६६॥

सूत्रार्थ—आचार्य-उपाध्याय-साधु हर एक बहुत हैं क्योंकि जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावों के द्वारा वे एक २ करके भिन्न २ हैं।

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥१४६७॥

सूत्रार्थ—कोई आचार्य निश्चय से किसी समय परम विशुद्धि को प्राप्त होता हुवा फिर मध्यम अथवा जघन्य विशुद्धि को भी आश्रय करता है।

हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादि हेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥१४६८॥

सूत्रार्थ—उस (विशद्धि के तरतमत्व) में प्रतिसमय नाना अविभाग प्रतिच्छेदों को लिये हुवे उदय में आने वाले संज्वलन कषायों के स्पर्धक ही कारण हैं किन्तु वहां (आचार्य में) कहीं पर भी बाह्य धर्म-आदेश और उपदेश आदि कारण नहीं है।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषो विशेषभाक् ॥१४६९॥

सूत्रार्थ—जो उपाध्याय और साधु है वे भी इसी परिपाटी से योजना कर लेने चाहियें (जानने चाहिये) क्योंकि न्याय से उन (उपाध्याय और साधुओं) में आचार्य से विशेषता को धारण करने वाला कोई विशेष (अन्तर) शेष नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंका

ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥१४७०॥

शंका—धर्मोपदेश आदि बाह्य क्रिया उस (आचार्य) की विशेषता में कारण है क्योंकि अभ्यन्तर हेतु की भी कहीं कहीं पर बाह्य वस्तु बाह्य हेतु होती है ।

समाधान सूत्र १४७१ से १४७३ तक ३

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिंचित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥१४७१॥

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि वास्तव में सम्पूर्ण बाह्य वस्तु अकिंचित्कर है किन्तु मोह से पर को चाहने वाले के वह पर वस्तु और वह आचार्य पद फलवान् है अर्थात् कर्म बंध में निमित्त हो जाता है ।

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥१४७२॥

सूत्रार्थ—धर्म का आदेश और धर्म का उपदेश (दीक्षा देना) आदि अपना आचार्य पद, और उसका जो फल मानादि—इस प्रकार सब प्रकार से बहिर् को नहीं चाहने वाले उस आचार्य की तो बात क्या है ? (अर्थात् आचार्यों को तो किसी पर वस्तु में मोह होता ही नहीं है) ।

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥१४७३॥

सूत्रार्थ—इस आचार्य के धर्मादेशादि क्रिया में निरिच्छपना असिद्ध नहीं है क्योंकि न्याय से इन्द्रिय विषय की अभिलाषा से ही इच्छा है । अन्य पदार्थ में कभी भी इच्छा नहीं मानी जाती है ।

शंका

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥१४७४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शका—कहीं पर भी क्रिया के बिना इच्छा नहीं होती और इच्छा के बिना क्रिया नहीं होती। इसलिये अनिच्छित क्रिया होती ही नहीं है चाहे इन्द्रिय विषय की हो या अन्य किसी कार्य की हो ऐसा शिष्य कहता है।

समाधान सूत्र १४७५ से १४८१ तक ७

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥१४७५॥

सूत्रार्थ—ऐसा नहीं है क्योंकि क्षीण कषाय और उसके आस पास के गुणस्थानों में हेतु की अतिव्याप्ति के कारण बन्ध की नित्यता आ पड़ने से मुक्ति की असंभवता है।

भावार्थ—इच्छा के बिना क्रिया के न मानने से क्षीणकषाय और उसके समीप के गुणस्थानों में अर्थात् १०, ११, १२, १३ गुणस्थान में अनिच्छापूर्वक क्रिया के पाये जाने के कारण उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति नाम का दोष आता हैं। और यदि उक्त गुणस्थानों में भी क्रिया के सद्भाव से इच्छा का सद्भाव माना जायेगा तो बन्ध के नित्यत्व का प्रसंग आने से मुक्ति की असंभवता हो जायेगी।

ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतस्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥१४७६॥

सूत्रार्थ—इसलिये (यद्यपि) तीनों में शुद्धि के नाना अंश से अंतरंगकृत भेद पाया जाता है (परन्तु) सामान्यरूप से तीनों ही समान हैं किन्तु बाह्य क्रिया कृत भेद है यह पक्ष न होवे।

किंचास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरंजसा ॥१४७७॥

सूत्रार्थ—और परमागम में यह अन्वर्थ रूढि प्रसिद्ध है कि वास्तव में साधु पद के (ग्रहण किये) बिना (किसी को भी) केवलज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की उत्पत्ति नहीं होती है।

तत्रचोक्तमिदं सम्यक् साक्षात् सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वत: श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥१४७८॥

सूत्रार्थ—तथा उस परमागम में प्रत्यक्षरूप से सम्पूर्ण पदार्थों को जानने देखने वाले (सर्वज्ञ देव) के द्वारा यह ठीक कहा गया है कि श्रेणी में चढ़ने वाले के क्षण भर में वह साधु पद स्वयं हो जाता है।

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठक: श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥१४७९॥

सूत्रार्थ—क्योंकि वह आचार्य अथवा उपाध्याय श्रेणी चढ़ने के काल में सम्पूर्ण चिन्ताओं के निरोध स्वरूप है लक्षण जिसका ऐसो ध्यान को अवश्य आश्रय करता है।

तत: सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥१४८०॥

सूत्रार्थ—इसलिये सिद्ध होता है कि यहां (श्रेणीके कालमें) उन दोनों के (आचार्य उपाध्याय के) बिना किसी प्रयत्न के ही (स्वयं) वह साधुपना प्राप्त होता है क्योंकि वहां पर निश्चय से बाह्य उपयोग का अवकाश नहीं है।

न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनं वरम्।
प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरि: साधुपदं श्रयेत् ॥१४८१॥

सूत्रार्थ—किन्तु ऐसा नहीं है कि आचार्य (श्रेणी के आरोहण काल में) पहले छेदोपस्थापना रूप उत्तम चारित्र को ग्रहण करके पीछे साधु पद को ग्रहण करता है।

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूप जिनागमात् ॥१४८२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—प्रसंग वश यहां पर नाम मात्र गुरु का लक्षण भी कहा और उस (गुरु) के शेष स्वरूप को विशेष रूप से जिनागम से जानना चाहिये।

सूत्र १४४३ से १४८२ तक का सार

इस प्रकरण में आचार्य-उपाध्याय और साधु में अर्थात् गुरु त्रय में क्या विशेषता है उसपर विचार किया गया है। सब से पहले यह समझने की आवश्यकता है कि मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का अभाव तो तीनों में होता ही है। अतः तीनों सम्यग्दृष्टि तथा बाह्य अभ्यन्तर दिगम्बरत्व के धारी होते हैं। संज्वल-कषाय के तीव्र मन्द उदय का कोई नियम नहीं है। कभी संज्वल कषाय कम होती है तो कभी अधिक होती है। परस्पर में भी हीनाधिक होती है तथा तीनों पदों में भी परस्पर हीनाधिक होती है जैसे दो आचार्य हैं तो उन दोनों में भी संज्वलन की अपेक्षा अन्तर रहता है तथा आचार्य उपाध्याय, साधु में भी परस्पर अन्तर रहता है जैसे कभी आचार्य के मन्द होती है तो साधु के तीव्र होती है। कभी साधु के मन्द होती है तो आचार्य के तीव्र होती है। इसी प्रकार उपाध्याय के भी कभी उन दोनों से अधिक, तो कभी हीन होती है। इस प्रकार तीनों में परस्पर अन्तर है। इसपर शिष्य प्रश्न करता है कि मुनि को तो किसी बहिरंग वस्तु का संयोग नहीं है अतः उस की शुद्धि अधिक होनी चाहिते तथा आचार्य के शिष्यों को दीक्षा, प्रायश्चित तथा उपदेश का कार्य है और उन में राग होता ही है। उसी प्रकार उपाध्याय को मुनियों के पढ़ाने का काम है। उसमें राग होता है। अतः साधु से इन दोनों की विशुद्धि हीन है। अपनी बात में युक्ति भी देता है कि बिना राग के क्रिया हो नहीं सकती। उसके उत्तर में उसे समझाया है कि उनकी शुद्धि में बहिरंग वस्तु से रंचमात्र अन्तर नहीं पड़ता वह तो कर्मोदय से स्वतः होती है। उन की शुद्धि में अन्तर तो संज्वलन कषाय से पड़ता है उसमें निमित्त कारण कर्म का उदय है बहिरंग वस्तु नहीं। उस संज्वलन के तीव्र मन्द उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुसार उनकी अन्तरंग शुद्धि में हीनाधिकता होती है । बहिरंग वस्तु के कारण नहीं। और यह जो उसने कहा था कि बिना राग के क्रिया नहीं होती तो कहा कि ग्यारह-बारह-तेरहवें में योग क्रिया तो है किन्तु राग नहीं है अतः बिना राग क्रिया नहीं होती यह युक्ति बराबर नहीं है। उनकी क्रिया बिना राग के ही होती है। एक प्रश्न शिष्य ने यह किया कि इन बहिरंग क्रियाओं के करते समय वे आत्मानुभव से रहित होते होंगे ? उस के लिये उत्तर दिया कि आत्मानुभव का सम्बन्ध मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी से है। चारित्रावरण से नहीं और उनका उनके अभाव ही रहता है। अतः बहिरंग क्रिया करते सन्ते भी उनके आत्मानुभव का विरह एक समय के लिये भी नहीं है। एक बात शिष्य ने यह पूछी है और ऐसा लोक में प्रसिद्ध भी है कि आचार्य, आचार्यपद को त्यागकर साधुपद अंगीकार करके ध्यानस्थ हो केवलज्ञान की उत्पत्ति करते हैं। उसका उत्तर यह है कि हैं तो ऐसा ही किन्तु इसका भाव समझने में भूल है। इसका भाव यह नहीं है कि आचार्य अपने आचार्यपद का प्रायश्चित करके मुनि होता है और फिर श्रेणी चढ़ता है । उसने कोई पाप थोड़ा ही किया है जिसका प्रायश्चित ले। वे तो आचार्य पद में रहते हुवे जिस किसी समय भी समाधि में लीन होकर श्रेणी चढ़ते हैं उस समय स्वयं उनकी मुनि संज्ञा हो जाती है। इसी कारण से आगम तथा लोक में यह प्रसिद्ध है कि आचार्य पद से मुक्ति नहीं है । मुनिपद से मुक्ति है। किन्तु इसका यह भाव कदापि नहीं कि आचार्य उपाध्याय का दर्जा मुनियों से कुछ कम है। कम अधिक का प्रश्न ही गलत है। वे तो तीनों मोक्षमार्गी मुनि कुन्जर हैं। और तीनों समान रूप से गुरु हैं।

धर्म का सामान्य स्वरूप सूत्र १४८३ से १४९० तक ८

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥१४८३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जो धर्मात्मा को नीच पद से उच्च पद में धरता है वह धर्म है। उस (नीच और ऊंच पद) में संसार नीचपद है तथा उस (संसार) का नाश (मोक्ष) उच्च पद है (श्रीरत्नकरण्ड-श्रावकाचार नं. २)

स धर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥१४८४॥

सूत्रार्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीन स्वरूप है। उन तीनों में सम्यग्दर्शन इन दोनों (सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) का एक मूल कारण है। इसके बिना शेष दो नहीं होते। दंसणमूलो धम्मो।

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनगार एव वा ।
सद्दृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥१४८५॥

सूत्रार्थ—इसलिये सागाररूप अथवा अनगाररूप जो भी धर्म है वह सब सम्यग्दर्शन पूर्वक ही धर्म है और उस (सम्यग्दर्शन) के बिना कहीं भी धर्म नहीं है।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥१४८६॥

सूत्रार्थ—शरीर की और वचनों की शुभ रूप क्रिया अथवा उस क्रिया में उस के साथ अनुकूलरूप मन की प्रवृत्ति रूढि से धर्म कहलाता है।

भावार्थ—शरीर की शुभ क्रियाओं का पालना और वचन से धर्मोपदेशादि देना और तदनुसार मन का विकल्प व्यवहार से धर्म कहलाता है अर्थात् आरोप से धर्म कहलाता है ऐसी आगम की और लोक की रूढ़ि है। वास्तविक बात तो यह है कि शरीर और वचन की क्रिया तो स्वतन्त्र परद्रव्य की क्रिया है वह आत्मा के आधीन नहीं है, ऐसा ज्ञानी धर्मात्मा जानते हैं। और मन का विकल्प शुभ भाव है, पुण्य बंध का कारण है, आस्रव तत्त्व है, जहर है (श्रीसमयसार गाथा ३०६)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा भी ज्ञानी जानते हैं। वे आरोपित कथनों में कथन के अनुसार अर्थ नहीं समझते किन्तु वस्तु स्वरूप के अनुसार अर्थ समझते हैं। धर्म तो जितना आत्मा में मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध भाव है, बस उतने अंश में धर्म है शेष सब अधर्म है ऐसा ज्ञानी को ठोक बजा कर अनुभव पूर्वक निश्चय है (श्रीप्रवचनसार गाथा ७ तथा श्री पुरुषार्थसिद्धि नं० २१२, २१३, २१४) पहले उस रूढि धर्म का ही सविस्तार वर्णन करते हैं—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥१४८७॥

सूत्रार्थ—वह क्रिया सब गृहस्थ और सब मुनियों की विशेषता से दो प्रकार की है क्योंकि निश्चय से क्रिया के विशेषपने से ही विशेष रूप धर्म है।

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्त गृहस्थानामणुव्रतम् ॥१४८८॥

सूत्रार्थ—उन में (सागर और अनगार दोनों प्रकार के धर्मों में) हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और सम्पूर्ण परिग्रह से एकदेश विरक्त होना गृहस्थों का अणुव्रत कहा गया है। यह गृहस्थ का मूल धर्म है। सम्यक्त्व सहित ५ पाप के एकदेश त्याग बिना श्रावकधर्म नहीं होता (श्रीरत्नकरंड श्रावकाचार ६६)।

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत् सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिंगमर्हताम् ॥१४८९॥

सूत्रार्थ—उन हिंसादिकों का सर्वदेश से त्याग करना महाव्रत कहलाता है और यह (महाव्रत) गृहस्थों के द्वारा किया जाना शक्य नहीं है क्योंकि यह (मुनि लिंग) अरहन्तों का लिंग है (श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक नं० १६ तथा इसी ग्रन्थ का नं० १३८९, १३९०)।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम्।
तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥१४९०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जैसे गृहस्थों के एकदेशरूप से मूल और उत्तर गुण होते हैं वैसे मुनियों के एकदेशरूप से नहीं होते हैं किन्तु वे सर्वदेश रूप से ही होते हैं। (भावार्थ आगे नं० १५११ तथा १५१२ में देखिये)।

धर्म का सामान्य स्वरूप समाप्त हुवा।

गृहस्थ धर्म सूत्र १४९१ से १५१० तक २०

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधरणा इमे ॥१४९१॥

सूत्रार्थ—वहां (सागार धर्म में, व्रतधारी गृहस्थों के आठ मूल गुण हैं और कहीं २ अव्रतियों के भी होते हैं क्योंकि ये सर्व साधारण हैं।

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥१४९२॥

सूत्रार्थ—(गृहस्थों के) वे गुण प्रगट रूप से स्वभाव से ही होते हैं या कुलाम्नाय से आये हुवे हैं। उस गुणाष्टक) के बिना प्राणियों के न सम्यक्त्व होता है तथा न कोई व्रत होता है।

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथवा ॥१४९३॥

सूत्रार्थ—इस (गुणाष्टक) के बिना नाम (निक्षेप) से भी यह श्रावक नहीं होता है। फिर पाक्षिक गूढ नैष्ठिक अथवा साधकश्रावक की तो बात ही क्या है।

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥१४९४॥

सूत्रार्थ—मद्य, मांस, मधु का त्यागी और छोड़ दिये हैं पांच उदम्बर फल जिस ने, वह नाम से श्रावक कहा गया है अन्यथा न श्रावक है और न गृहस्थी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्भनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रयसीक्रियाम् ॥१४६५॥

सूत्रार्थ—गृहस्थों के द्वारा शक्ति-अनुसार व्यसन त्याग किया जाना चाहिये और कल्याणकारी क्रिया को चाहने वाले, उन व्रत में स्थित गृहस्थों के द्वारा तो अवश्य त्याग किये जाने चाहियें।

त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥१४६६॥

सूत्रार्थ—उन (आठ मूल गुणों) में सूत्र में अतीचारों के नाम से कहे हुवे दोषों को भी छोड़े अन्यथा (खालिस) मद्यमांसादिकों को कौन श्रावक खाता है (अर्थात् कोई नहीं)।

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥१४६७॥

सूत्रार्थ—उत्तम श्रावकों के द्वारा जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्रों के लिये पात्र बुद्धि से और श्रद्धा से चार प्रकार का दान दिया जाना चाहिये।

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥१४६८॥

सूत्रार्थ—कुपात्र के लिये और अपात्र के लिये भी यथोचित दान देने योग्य है। उनको पात्र बुद्धि से दान देने का) निषेध किया गया है किन्तु कृपा बुद्धि से निषेध नहीं किया गया है।

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥१४६९॥

सूत्रार्थ—करुणा से भीगा हुवा है हृदय जिनका, उनके द्वारा, शेष जो अशुभ उदय के कारण भूख-प्यास-आदि से पीड़ित हैं और दीन हैं उन के लिये भी अभयदानादि देना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजामप्यर्हतां कुर्याद् यद्वा प्रतिमासु तद्धिया ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥१५००॥

सूत्रार्थ—बुद्धिमान् (श्रावक) अरहन्तों की अथवा उन (अरहन्तों) की बुद्धि से (उनकी) प्रतिमाओं में भी पूजा को करे। स्वर व्यञ्जनों को भले प्रकार स्थापना करके सिद्धों को भी पूजें।

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पदयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधापूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥१५०१॥

सूत्रार्थ—और वह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के आगे उनके दोनों चरणों में स्तुति को पहले करके फिर आठ प्रकार की पूजा को त्रि (मन वचन काय) शुद्धि से करे। (ये पांचों भगवान् कहलाते हैं। पांचों पूजने योग्य हैं)।

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥१५०२॥

सूत्रार्थ—और शक्ति-अनुसार व्रती या दूसरे अव्रती सधर्मियों का अथवा विशेषरूप से ब्रह्मचारियों का सम्मानादि करना चाहिये।

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥१५०३॥

सूत्रार्थ—लोगों के अविरुद्धपने से (लोकाचार अविरुद्धपने से) व्रत में स्थित नारियों के लिये भी सम्मानदानादि देना जिनागम में निषिद्ध नहीं है।

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥१५०४॥

सूत्रार्थ—जिन मन्दिर आदि की रचना में सम्पत्ति के अनुसार सावधानता रखनी चाहिये। इसके बनवाने में पाप के लेश से दोष नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धानामर्हताञ्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ॥१५०५॥

सूत्रार्थ—बुद्धिमान् सिद्धों के और अरहन्तों के भी सुन्दर यन्त्र, प्रतिमा चैत्यालयों में स्थापना करके तुरन्त प्रतिष्ठा करावे ।

अथ तीर्थादियात्रासु विदध्यात् सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥१५०६॥

सूत्रार्थ—और श्रावक तीर्थ आदि की यात्राओं में उद्यत मन करे और वह वहां भी संयम को न विराधें ।

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्य तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥१५०७॥

सूत्रार्थ-(श्रावकोंके द्वारा)नित्य और नैमित्तिक जिनबिम्बमहोत्सव में शिथिलता नहीं करनी चाहिये और तत्त्वज्ञों के द्वारा तो वह शिथिलता विशेषरूप से नहीं की जानी चाहिये (क्योंकि एक साथ बहुत जीवों को लाभ हो जाता है) ।

संयमो द्विविधश्चैवं विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥१५०८॥

सूत्रार्थ—गृहस्थों के द्वारा दो प्रकार का संयम पालन करने योग्य है । वह इस प्रकार एक तो प्रतिमा रूप व्रत और दूसरा बिना प्रतिमा के अपनी शक्ति अनुसार व्रत ।

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात् ॥१५०९॥

सूत्रार्थ—तप बारह प्रकार का है । बाह्य अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है वह सम्पूर्ण तप या उसमें से कोई तप अपनी शक्ति को उलंघन न करके, करने योग्य है ।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशं सविस्तरम् ॥१५१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—प्रसंग अनुसार यहां नाम मात्र से गृह व्रत को कहा। उपासकाध्याय से (श्रावकाचार शास्त्र अनुसार) अवकाश मिलने पर विस्तार सहित कहूंगा।

आवश्यक सूचना—व्यवहार गृहस्थ धर्म के पालने में भी बहुत विवेक की आवश्यकता है। आगम पद्धति कुछ और है और समाज का ढर्रा कुछ और है। समाज रूढि बहुत गलत है। इस विषय में श्रीरत्न-करण्ड जैसे श्रावकाचार का भी व्यवहार ज्ञान लोगों को नहीं है और जैसे तैसे देखा देखी विचरते हैं। इसपर भी कुछ प्रकाश डालना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। वह इस प्रकार—सर्वज्ञपद्धति तो यह है कि पहले तीन मकार और ५ पापों को मोटे रूप में त्याग किया जाय (सप्त व्यसन और पांच उदम्बर फल का त्याग इसी पांचपाप त्याग के पेट में आ जाता है)। देखिये श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार सूत्र नं० ६६। ये गृहस्थों का मूल धर्म है। इसके बिना श्रावक नहीं होता। रात्री भोजन-त्याग, शुद्ध भोजन ग्रहण, भोगोपभोग का कम करना इत्यादिक सब इस के बाद हैं जैसा क्रम कि श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिया है। लोग सप्त व्यसन तो सेते रहते हैं और रात्रि भोजन का त्याग कर देते हैं। परस्त्री गमन तो करते रहते हैं और खाते शुद्ध भोजन हैं। जुवा सट्टा वदनी तो करते हैं और प्रातः शाम सामायिक में बैठ जाते हैं। भाव तो दूसरे के ठगने का करते हैं और स्वाध्याय में शास्त्र के पोथे के पोथे पढ़ जाते हैं। बाहर में तो गरम वस्त्र का त्याग तक कर देते हैं अन्दर में मिथ्यात्व माया निदान की पोट हैं। बाहर में पूजा करते हैं अन्दर में रात्रि भर ताश खेलते हैं। पांचों पाप भी करते रहते हैं और बाहर में सब से अधिक धर्मात्मा भी बने रहते हैं। बाहर में तो सम्यक्त्व के आठ अंग पालते हैं, पढ़ते हैं अन्दर में धर्मात्माओं को ठगने से भी नहीं चूकते ऐसे लोग भले ही अपने को धर्मात्मा समझें किन्तु वे जैन धर्म सुनने के पात्र भी नहीं हैं। नाम जैन भी नहीं हैं और "हाय व्यवहार धर्म नष्ट हो जायेगा" इसकी दुहाई देते हैं। कहने का आशय थोड़े में इतना ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि ऐसे क्रम भँग त्याग की जैन पद्धति नहीं है, न उसमें कुछ धर्म है। सर्वज्ञभाषित व्यवहार पद्धति वही है जो श्रीरत्नकरण्ड श्रावकाचार तथा श्रीपुरुषार्थसिद्धि आदि में निरूपित है। उसी क्रम से आपकी आत्मा शुद्ध होकर मोक्षमार्ग पर लगेगी। बाहर अन्दर की मायाचारी या अक्रम ग्रहण त्याग से नहीं। पं० टोडरमल जी ने तो इस सम्बन्ध में बहुत लिखा है। सार रूप में हमने थोड़े में सब कुछ कह दिया है। हम आध्यात्मिक पुरुष हैं अतः अधिक नहीं लिखा। विषयान्तर हो जायेगा। एक बात और खास याद आ गई। जैन धर्म पद्धति तो "निश्शल्यो ब्रती" है। जब तक मिथ्यात्व माया निदान दूर न हो, कोई ब्रत ही नहीं होता। इसकी ओर प्रायः किसी त्यागी गृहस्थ का ध्यान नहीं है। माया करते रहते हैं और ब्रती समझते रहते हैं। ये अपने को ही ठगते हैं और आत्मा तो सुगती का भी पात्र नहीं हो पाता। दूसरों को तो कोई ठग ही नहीं सकता। केवल माया से कर्म बाँध अपना बुरा करता है। उपर्युक्त कड़े शब्दों में जरूर लिखा है किन्तु सत्य है या झूठ यह अपने अनुभव से मिलाकर देखें। हमने भी बहुत अनुभव पूर्वक लिखा है।

मुनि धर्म सूत्र १५११ से १५१३ तक ३

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥१५११॥

सूत्रार्थ—यति के मूलगुण अट्ठाईस होते हैं जैसे वृक्ष का मूल। इनमें कभी भी किसी एक से कम या किसी एक से अधिक नहीं होते अर्थात् किसी में २७ या २९ नहीं होते।

भावार्थ—एक मूल धर्म होता है एक उत्तर धर्म होता है जैसे श्रावक तीन प्रकार का और पांच पापों का मोटे रूप से त्याग मूलधर्म है अर्थात् पांच अणुब्रत मूल धर्म है। ३ गुण ब्रत तथा ४ शिक्षब्रत उत्तर गुण हैं। मूल गुण के अभाव में श्रावक नहीं हो सकता किन्तु उत्तर गुणों की हीनाधिकता से श्रावकपना नहीं जाता (श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसी प्रकार २८ मूलगुण मुनि का मूल धर्म है। इन के बिना तो मुनि होता ही नहीं। ८४ लाख उत्तर गुण हैं। उनकी हीनाधिकता से मुनि-पना रह सकता है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं टिक सकता। डाली पत्ते की हीनाधिकता से वृक्ष रह सकता है।

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥१५१२॥

सूत्रार्थ—जो कुछ मुनिव्रत है वह इन सब समस्तों के द्वारा सिद्ध है। व्यस्तों (अधूरों-कमों) से नहीं। व्यस्तों से किसी एक अंश नय से अंश मात्र भी मुनि व्रत नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार श्रावकों का पूरा धर्म सम्यक्त्व सहित ११ प्रतिमा है जैसे प्रतिमाओं के अनुसार हीनाधिक श्रावक धर्म होता है, उसप्रकार मुनिधर्म के २८ मूलगुणों के एक देशपालन से या कुछ के पालन से थोड़ा मुनिधर्म हो जाता हो, ऐसा विधान नहीं है। मुनिधर्म में हीनाधिकता नहीं है। सब के सब में २८ गुण ही होते हैं। कम ज्यादा नहीं होते। हां ८४ लाख उत्तर गुणों में हीनाधिकता हो सकती है। ये व्यवहार धर्म की मुख्यता से कथन है। संज्वलन कषाय में हीनाधिकता हो सकती इसका वर्णन पहले कर आये हैं। वे २८ मूल गुण ये हैं।

श्रीप्रवचनसार में कहा है:—

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥२०८॥

सूत्रार्थ—व्रत[५], समिति[५], इन्द्रियरोध[५], लोच[१], आवश्यक[६], अचेलपना[१], अस्नान[१], क्षितिशयन[१], अदंतधावनं[१], खड़ा खड़ा भोजन[१], और एकवक्त आहार[१]। कुल २८।

एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥१५१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जैन शासन में यतियों के ये मूलगुण कहे गये हैं। चौरासी लाख उत्तर नाम वाले गुण कहे गये हैं।

मुनिधर्म समाप्त

धर्म उपसंहार

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥१५१४॥

सूत्रार्थ—इसलिये यथोक्त जो सागार धर्म अथवा अनगार धर्म है। उन दोनों में ही सामान्यरूप से प्राणियों की भले प्रकार रक्षा मूल रूप है।

भावार्थ—धर्म का सामान्य लक्षण प्राणीरक्षा अर्थात् अहिंसा है शुद्ध भाव प्रगट करके स्वअहिंसा अर्थात् अपने आपकी रागद्वेष मोहरूप भाव हिंसा से रक्षा करना निश्चय धर्म है तथा अपने वा दूसरे प्राणी के १० प्राणों की रक्षा का विकल्प करना व्यवहार धर्म है। यही मुनि वा श्रावक धर्म का सार है।

व्यवहार धर्म का निरूपण समाप्त हुवा

निश्चय धर्म सूत्र १५१५ से १५४० तक २६

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद् व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥१५१५॥

सूत्रार्थ—जो विस्तार रूप से क्रियारूप व्रतसमूह कहा गया है वह सब केवल एक सर्वसावद्ययोग के निवारण करने के लिये है कषाय से अर्थात् शुभाशुभ भाव से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को सावद्ययोग कहते हैं वह अधर्म है। उसका अभाव धर्म है।

अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥१५१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—वास्तव में जैनोपदेश यही है और वह ही आदेश है कि सर्वसावद्ययोग की निवृत्ति व्रत कहा जाता है (शुभाशुभ भाव युक्त योग प्रवृत्ति को सावद्य योग कहते हैं)।

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः ।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥१५१७॥

सूत्रार्थ—उस में (सर्वसावद्ययोगनिवृत्ति) शब्दार्थ की अपेक्षा से सर्व शब्द से अन्तरंग और बहिरंग वृत्ति लिया गया है) सावद्य प्राण नाश है वह ही हिंसा मानी गई है।

योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥१५१८॥

सूत्रार्थ—और उस में योग शब्द का अर्थ उपयोग है। वह बुद्धिपूर्वक भी उपयोग कहा जाता है और जो सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक है वह भी उपयोग माना गया है।

तस्याभावान्निवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साऽप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोऽपि तत् ॥१५१९॥

सूत्रार्थ—उस (सर्व सावद्य योग) के अभाव से जो निवृत्ति है वह वास्तव में व्रत माना गया है। वह निवृत्ति अंशरूप से हो तो वह व्रत भी अंशरूप से (अणुव्रत रूप से) कहा गया है और यदि वह निवृत्ति संपूर्ण रूप से हो तो वह व्रत भी सर्वदेश से (महाव्रत) कहा गया है।

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तःकषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा ॥१५२०॥

सूत्रार्थ—यह सब तरह से सिद्ध होता है कि बाह्य व्रत प्राणियों पर दया करना है और अन्तरंग व्रत कषायों का त्याग है। वही यह अपनी आत्मा पर कृपा है।

लोकसंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात् संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥१५२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—जब तक वे असंख्यात लोकप्रमाण रागादिक भाव रहते हैं तब तक प्रगट रूप से आत्मा के ज्ञानादि धर्मों की हिंसा होने से हिंसा होती है।

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥१५२२॥

सूत्रार्थ—वास्तव में रागादिक ही हिंसा है अथवा अधर्म है अथवा व्रतच्युति है। निश्चय से उस रागादिक का त्याग अहिंसा है अथवा व्रत है अथवा निश्चय से धर्म है।

आत्मेतराङ्गिणामगरक्षणं यन्मत स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृते नातः परत्र तत् ॥१५२३॥

सूत्रार्थ—आगम में अपना और दूसरे प्राणियों का अंगरक्षण (प्राणों की रक्षा-दया-अहिंसा) जो माना गया है। वह केवल स्वात्म रक्षा के लिये ही किया गया है। इसलिये वह पर के लिये नहीं है।

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥१५२४॥

सूत्रार्थ—रागादि भावों के होने पर बलात् (निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध-से वस्तु स्वभाव से-स्वतः) कर्मों का बंध होता है और उन कर्मों के उदय से आत्मा के दुःख होता है इसलिये (रागादि भावों के द्वारा) आत्मा का बंध सिद्ध होता है।

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥१५२५॥

सूत्रार्थ—इसलिये मोह कर्म के उदय के बिना जो शुद्धोपयोग है वही चारित्र नाम से है। और यह ही निश्चय से उत्कृष्ट व्रत है।

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हत् सार्थनामास्ति दीपवत् ।१५२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—चारित्र निर्जरा का कारण है। यह बात न्याय से भी अबाधित है। (क्योंकि वह चारित्र) सम्पूर्ण अपनी अर्थ क्रिया में समर्थ होता हुवा सार्थक नाम वाला है दीपक की तरह।

रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥१५२७॥

सूत्रार्थ—रूढि से शुभोपयोग भी चारित्र नाम से कहा गया है परन्तु निश्चय से अपनी प्रयोजनभूत क्रिया को नहीं करता हुवा सार्थक नाम वाला नहीं है।

भावार्थ—चारित्र की स्वार्थक्रिया निर्जरा है और शुभोपयोग से वह नहीं होती है। अतः शुभोपयोग वास्तव में चारित्र नहीं किन्तु बन्धस्वरूप है। चारित्र का घातक है।

किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥१५२८॥

सूत्रार्थ—किन्तु वह शुभोपयोग बन्ध का कारण है वास्तव में वह विरोधिवत् है अशुभोपयोग की तरह चारित्र का घातक है। वह श्रेष्ठ नहीं है। वह श्रेष्ठ है जो न अपकार करता है और न उपकार करता है।

भावार्थ—व्यवहार में अशुभोपयोग अपकार करने वाला माना जाता है और शुभोपयोग उपकार करने वाला माना जाता है किन्तु शुद्धोपयोग की अपेक्षा वे दोनों बन्ध करने वाले होने के कारण चारित्र के विरोधी हैं। अतः श्रेष्ठ (उपादेय) नहीं हैं।

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात्।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥१५२९॥

सूत्रार्थ—विचार करने से इस शुभोपयोग के विरुद्ध कार्यकारित्व असिद्ध नहीं है क्योंकि यह एकान्त रूप से (सर्वथा) बन्ध का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण है और वह भी इस कारण से कि इसमें शुद्ध से अन्यपना (भिन्नता) अशुद्धता) पाया जाता है ।

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥१५३०॥

सूत्रार्थ—बुद्धि के अपराधपने (मन्दता) से यह भी नहीं विचार करना चाहिये कि शुभोपयोग अंश रूप से निर्जरा का कारण है । चाहे शुभ हो चाहे अशुभ रूप हो-दोनों अबन्ध के कारण नहीं हैं अर्थात् बन्ध के कारण हैं ।

श्रीप्रवचनसार जी में कहा है

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्तिपुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

नहीं मानता—इस रीत पुन और पाप में न विशेष है ।
वो मोह से आछन्न घोर अपार संसारे भमे ॥७७॥

सूत्रार्थ—इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है । ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहाच्छादित वर्तता हुवा घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है ।

श्रीसमयसार जी में कहा है

अज्ञानी की मान्यता—पुण्यकर्म अच्छा है, पापकर्म बुरा हैं

पाप कर्म कुशील है, है सब जगत की मान्यता ।
पुण्य कर्म सुशील है, है सब जगत की मान्यता ॥

खण्डन = पुण्य पाप एक ही है ।

गुरु कहते कैसे सुशील वो संसार मैं दाखिल करे ।
हैं कर्म दोनों एक ही चाण्डालनी के पुत्र हैं ॥१४५॥

शुभ मोक्ष का कारण नहीं है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्धज्जनों भूतार्थ तज व्यवहार से वर्तन करें।
पर कर्म क्षय का विधान तो परमार्थ आश्रित सन्त के ॥

व्यवहार और निमित्त के कथनों में लुटता जगत् है।
रे ज्ञानी ! इस से चेत होकर जान तू भूतार्थ से ॥१५६॥

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत्।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥१५३१॥

सूत्रार्थ—जो कर्मों को ग्रहण करने वाली क्रिया का निरोध है (राग द्वेष मोह का अभाव है)। वह स्वरूपाचरण है। वही धर्म है। वही शुद्धोपयोग है और वह यह चारित्र नाम से कहा जाता है।

श्रीप्रवचनसार में कहा है

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्र है वह धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है'
अरु साम्य जिव का मोहक्षोभ विहीन निजपरिणाम है ॥७॥

सूत्रार्थ—चारित्र निश्चय से धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है यह (शास्त्र में) कहा है। साम्य मोहक्षोभरहित ऐसा आत्मा का परिणाम (भाव) है। इसपर शिष्य शंका करता है।

शङ्का

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥१५३२॥

शङ्का—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से मोक्ष पद्धति (मार्ग) है। समस्तों से ही, व्यस्तों (भिन्न-भिन्न) से नहीं तो फिर ऊपर चारित्रमात्र से (मोक्षपद्धति) कैसे ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान—सूत्र १५३३ से १५३८ तक ६

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥१५३३॥

सूत्रार्थ—ठीक है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र के अन्तर्गत हैं। तीनों के परस्पर अविनाभाव से ये तीनों अखण्डित हैं।

किंच सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥१५३४॥

सूत्रार्थ—और सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र दोनों का कारण है अथवा यह सम्यग्दर्शन ही आगे उत्पन्न होने वाले ज्ञान और चारित्र के सम्यक् विशेषण का मूल कारण है।

अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाभूतपूर्वकम् ॥१५३५॥

सूत्रार्थ—अर्थ (भाव) यह है कि सम्यक्त्व के होने पर यहां जो भूतपूर्व ज्ञान और चारित्र हैं वे सम्यक् हो जाते हैं अथवा (यह सम्यग्दर्शन) अभूतपूर्वक (जो पहले नहीं था ऐसे ज्ञान और चारित्र को) जन्म देता है।

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥१५३६॥

सूत्रार्थ—जो ज्ञान में अतिशय लाने वाली शुद्धोपलब्धि की शक्ति रूप लब्धि है वह सम्यक्त्व के होने पर ही होती है अथवा शुद्ध भाव भी सम्यक्त्व के होने पर ही होता है (अर्थात् लब्धिरूप ज्ञान चेतना या लब्धिरूप स्वात्मानुभूति सम्यक्त्व के होने पर ही उत्पन्न होती है)।

खास सूत्र

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥१५३७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—और जो सम्यग्दर्शन के बिना द्रव्य चारित्र (व्यवहार चारित्र) तथा (शब्द) श्रुत ज्ञान होता है। वह न तो ज्ञान है न चारित्र है। यदि है तो कर्म बन्ध के करने वाला है। द्रव्यलिंगी का ग्यारह अंग तक के अभ्यास और निर्दोष मुनिव्रत पालन को मात्र बन्ध का कारण कहा है।

तेषामन्यतमोद्देशो नास्ति दोषाय जातुचित्।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥१५३८॥

सूत्रार्थ—उन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से किसी एक का कथन कदापि दोष के लिये नहीं है क्योंकि मोक्षमार्ग रूप एक साध्य के तीनों साधक माने गये हैं।

धर्म तत्त्व का सार

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥१५३९॥

सूत्रार्थ—प्रश्न करने में चतुरों के द्वारा संक्षेप से बन्ध मोक्ष इतना ही जान लेना चाहिये कि राग-अंशों से बन्ध ही होता है और अराग-अंशों से कभी भी बन्ध नहीं होता है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२ से २१४॥

सूत्रार्थ—जिस अंश से सम्यग्दर्शन (तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) है उस अंश से इस के बन्धन नहीं है किन्तु जिस अंश से राग है उस अंश से इस के बन्धन होता है।

उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसंगात्संगतोंऽशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥१५४०॥

सूत्रार्थ—प्रसंग से सुसंगत होने से अंश रूप से (संक्षेप से) धर्म का स्वरूप भी कहा अथवा समय प्राप्त होने पर कवि उस (धर्म के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप) को विस्तारपूर्वक कहेगा।

अमूढ़ दृष्टि अंग का उपसंहार

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थदर्शिनी।
ख्याताप्यमूढ़दृष्टिः स्यादन्यथा मूढ़दृष्टिता ॥१५१४॥

सूत्रार्थ—देव में, गुरु में, तथा धर्म में तत्त्वार्थ को यथार्थरूप से देखने वाली जो दृष्टि है वह अमूढ़दृष्टि कही गई है। अन्यथा मूढ़दृष्टिपना है।

सम्यक्त्वगुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥१५४२॥

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व का यह लक्षण किया गया गुण दोष के लिये नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टि वैसा (अमूढ़दृष्टि) अवश्य होता है तथा दूसरा (मिथ्यादृष्टि) वैसा (अमूढ़दृष्टि) नहीं होता।

श्रीसमयसार जी में कहा है

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी समादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता सब भावों में अमूढ़ है–यथार्थ दृष्टि वाला है, उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, सभी भावों में मोह का अभाव होने से, अमूढ़दृष्टि है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिता कर्तव्यममूढ़दृष्टित्वम् ॥२६॥

सूत्रार्थ—लोकाचार में, शास्त्राभास में, धर्माभास में, देवताभास में, तत्त्वों में रुचि रखने वाले पुरुष द्वारा सदा अमूढ़दृष्टिपना किया जाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये। लोकमूढ़ता को लोकाचार कहते हैं, अन्यमत के शास्त्रों को शास्त्राभास कहते हैं, अन्य धर्मों को धर्माभास कहते हैं, अन्य देवताओं को देवताभास कहते हैं। इनकी श्रद्धा का न होना तथा सच्चे देव गुरु धर्म की श्रद्धा होना अमूढ़दृढित्व है।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

कापथे पथि दु खानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असम्पृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढ़ादृष्टिरुच्यते ॥१४॥

सूत्रार्थ—दुःखों के स्थानभूत खोटे मार्ग में तथा खोटे मार्ग में स्थित पुरुषों में मन से सम्मत नहीं होना, काया से अनुमोदना नहीं करना वचन से प्रशंसा नहीं करना, अमूढ़दृष्टि अंग कहा जाता है।

श्री अमितगति श्रावकाचार में कहा हैं

देवधर्मसमयेषु मूढता
यस्य नास्ति हृदये कदाचन।
चित्रदोष कलितेषु सन्मतेः
सोच्यते स्फुटममूढदृष्टिकः ॥७६॥

सूत्रार्थ—नाना प्रकार दोषनकरि व्याप्त जे देव अर धर्म अर समय कहिये सर्वमत इन विषैं सुबुद्धि के हृदय विषैं कदाचित् मूढ़ता कहिये मूर्खता नहीं है सो अमूढ़दृष्टि कहिये है अर्थात् देवपने के आभास धरें ऐसे हरिहरादिक अर धर्माभास यज्ञादिक अर समयाभास वैष्णवमत आदिक इन विषैं ये भी देवादिक हैं ऐसी मूढ़ता का अभाव सो अमूढ़-दृष्टि जानना ।

नववां अवान्तर अधिकार

उपबृंहण अंग सूत्र १५४३ से १५५४ तक १२

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥१५४३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—उपबृंहण नामा गुण भी सम्यग्दृष्टि आत्मा का है। जो आत्म शक्तियों के अवश्य बढ़ाने रूप लक्षण से प्रसिद्ध है। अर्थात् अस्ति से उपबृंहण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के बढ़ाने को कहते हैं और नास्ति से।

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद् दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत् ।।१५४४।।

सूत्रार्थ—आत्मा शुद्धि की दुर्बलता नहीं करना उपबृंहण हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भाव से स्खलित नहीं होना ही वह उपबृंहण है। अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि पर की वृद्धि का इच्छुक नहीं है।

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव
तथापि यत्तवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ।।१५४५।।

सूत्रार्थ—[एषः] यह सम्यग्दृष्टि [निःशेषात् जानन् अपि] सम्पूर्ण पर पदार्थों को जानता हुआ भी [पौरुषं प्रेरयन् इव] बाहर से ऐसा मालूम पड़ता है कि वह उन पर पदार्थों के बढ़ाने का पुरुषार्थ कर रहा है [तथापि] तो भी वह [पौरुषं प्रेरयन् इव] जिस प्रकार मिथ्या दृष्टि उनकी वृद्धि के लिये पुरुषार्थ करता है। उस प्रकार [अत्र] इन पर पदार्थों में [यत्नवान् न अस्ति] पुरुषार्थी नहीं है।

भावार्थ—हमारे विचार से इस मूलसूत्र में कुछ अशुद्धि है। पं० फूलचन्द्र कृत टीका में हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने अपनी इच्छानुसार शुद्ध कर लिया है किन्तु वह और अशुद्ध हो गया है प्रकरण विरुद्ध हो गया है तथा अर्थ भी गलत हो गया है। पं० देवकीनन्दन जी ने अर्थ ही छोड़ किया है। पं० मखनलाल कृत टीका का मूलसूत्र तथा मूलमात्र संस्कृत पञ्चाध्यायी का पाठ इसी प्रकार मिलता है। उस के अनुसार हमने लिखा है। जहां तक हमसे बना है पूर्व अपर अनुसन्धान देखकर अर्थ लिखा है किन्तु मन हमारा पाठ अशुद्धि के भय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से संदिग्ध है। ऊपर प्रकरण यह चला आ रहा है कि सम्यग्दृष्टि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की वृद्धि का ही पुरुषार्थ करता है यह उसका उपबृंहण गुण है। अब कोई कहे कि सम्यग्दृष्टि तो पर की वृद्धि का भी पुरुषार्थ करता देखा जाता है तो कहते हैं कि जिस समय सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभूति की उपयोग दशा में नहीं होता, उस समय पर में प्रवृत्त जरूर होता है। बाहर से ऐसा दीखता है कि वह व्यापार इत्यादिक करता हुआ पर की वृद्धि का पुरुषार्थ कर रहा है किन्तु आचार्य कहते हैं कि वास्तविक बात यह है कि मिथ्यादृष्टि की तो यह मान्यता है कि मैं पर को बढ़ा सकता हूं। अतः वह तो पर को बढ़ाने का संकल्प अवश्य करता है। बढ़ा तो वह भी नहीं सकता पर संकल्प और श्रद्धा के कारण उनका बढ़ाने वाला (कर्ता) कहा जाता है। ज्ञानी की यह श्रद्धा है कि पर का स्वतन्त्र परिणमन है तथा उसकी वृद्धि, हानि कर्माधीन है। अतः वह उदयानुसार उस कार्य को करता हुआ जरूर दीखता है किन्तु वास्तव में तो वह सब पर पदार्थों से उपेक्षित है। मात्र उनका ज्ञाता ही है। अब यह कहते हैं कि पर की वृद्धि का पुरुषार्थ नहीं करता इतना ही नहीं किन्तु उस समय भी उसका अन्तरंग पुरुषार्थ तो शुद्धोपलब्धि की वृद्धि में ही कार्य करता है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान्।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥१५४६॥

सूत्रार्थ—(उस समय भी) यह शुद्धोपलब्धि में लेशमात्र से भी प्रमादवान् नहीं होता किन्तु प्रमादरहितपने से आत्मा को बड़े आदर से ग्रहण करता हुवा है अर्थात् उस समय भी अन्तरंग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की वृद्धि ही कर रहा है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीं ॥१५४७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—अथवा शुद्धोपलब्धि के लिये उस बहिरंग (शास्त्र स्वाध्याय आदि) को भी अभ्यास करता है। और उस साध्य की उपयोगी किसी २ शुभ क्रिया को भी करता है अर्थात् व्यवहार धर्म को भी शुद्धि की वृद्धि का लक्ष्य रखते हुवे पालता है।

रसेन्द्रं सेवमानोऽपि कोऽपि पथ्यं न वाचरेत्।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥१५४८॥

सूत्रार्थ—रसायन (पारे के भस्म आदि) को सेवन करने वाला कोई भी यदि पथ्य सेवन न करे तो अपनी सरोगता को खोता हुवा नीरोगता को भी खो देता है।

भावार्थ—यहां यह शङ्का हो सकती थी कि शुभ तो बन्ध है उसे वह क्यों पालता है तो कहते हैं कि अशुभ से बचने के लिये पालता है क्योंकि उपयोगात्मक स्वात्माभूति तो कभी २ अन्तर्मुहूर्त के लिये होती है। हर समय तो उपयोग पर में ही रहता है। यदि उस समय उपयोग को शास्त्र स्वाध्याय और शुभ आचरण में नहीं लगायेगा तो स्वभावतः उपयोग अशुभ में चला जायेगा और संभव है उसके साथ शुद्ध भाव भी छूट जाये क्योंकि अशुभ का जीव को अनादि का अभ्यास है। वहां उपयोग जल्दी रमता है। अतः सम्यग्दृष्टि अशुभ से बचने के लिये शुभ भी पालता है। एक दृष्टान्त से इस भाव की पुष्टि करते हैं कि आतशिक (गरमी का रोग) इत्यादिक रोगों को दूर करने के लिये पारे आदि की भस्म खाते हैं। साथ में यदि बदपरहेजी से बचे रहें तो रोग अच्छा हो जाता है अन्यथा निरोगता तो दूर रहो, पारे से शरीर फटकर और व्याधि बढ़ जाती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार रोग को नाश करने के लिये शुद्धरत्नत्रय की दवाई करता है। परहेजवत् अशुभ से बचा रहता है तो मोक्ष की सिद्धि कर लेता है। यहां तक तो पुरुषार्थ पूर्वक उपबृंहण की सिद्धि की, अब सिद्धान्त दृष्टि से उपवृंहण की सिद्धि करते हैं—

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृहंणम्।
ऊर्ध्वमूर्ध्वंगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥१५४९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—अथवा बिना प्रयत्न के ही स्वतः उस सम्यग्दृष्टि में उपबृंहण सिद्ध है क्योंकि ऊपर २ गुणश्रेणी में निर्जरा की सम्भवता है।

अवश्यम्भाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम्।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥१५५०॥

सूत्रार्थ—और इस सम्यग्दृष्टि में सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा अवश्य होने वाली है क्योंकि हरएक सूक्ष्म समय में असंख्येयगुण क्रम से निर्जरा हो रही है।

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥१५५१॥

सूत्रार्थ—न्याय से वास्तव में यह बात आई कि जितने अंश से उस कर्म का नाश है (उतने अंश से) शुद्धोपयोग की वृद्धि है। और फिर वृद्धि की वृद्धि पुनः पुनः है।

भावार्थ—आगम में बताया है कि सम्यग्दृष्टि के हर समय नियमानुसार सत्ता में पड़े हुवे कर्मों की निर्जरा होती रहती है। उसी प्रकार उदय में भी अभाव होता रहता है और तदनुसार भी उसकी रत्नत्रय की वृद्धि स्वतः हर समय होती रहती है। इस प्रकार उसके स्वतः उपबृंहण गुण सिद्ध है। अब बताते हैं कि आत्मशुद्धि की वृद्धि और इन्द्रिय विषयों की इच्छा की कमी का अविनाभाव है:—

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥१५५२॥

सूत्रार्थ—जैसे २ विशुद्धि की अन्तरंग में प्रकाश होने वाली वृद्धि होती है वैसे २ ही इन्द्रियों के विषयों में भी भी उपेक्षा (की वृद्धि) होती जाती है।

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्ति स लोपयेत्।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥१५५३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—इसलिये वह बड़े भारी क्रियाकाण्ड में भी अपनी शक्ति को नहीं लोपता किन्तु सम्यग्दृष्टि निश्चय से प्रयत्न से भी बढ़ाता है। (किन्तु उसमें उसको उपादेय बुद्धि नहीं होती। न उससे लाभ मानता है। केवल जबतक ऊपर की भूमि में नहीं पहुंचा है अशुभ से बचने के लिये करता है (श्री पंचास्तिकाय गा० १३६ टीका)।

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥१५५४॥

सूत्रार्थ—इस प्रकार जो सम्यग्दर्शन का उपबृंहण नामा गुण है। वह भी गुणों की गणना में गिना हुवा अगुण (दोष) के लिये नहीं है (क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि के अविनाभाव से होता ही है)।

श्रीसमयनसार जी में कहा है

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता सिद्ध की अर्थात् शुद्ध आत्मा की भक्ति से युक्त है और परवस्तुओं के सर्व धर्मों को गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावों से युक्त नहीं होता है) उसको उपगूहन करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमयता के कारण, समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करता है, इसलिये उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ाने वाला है।

श्री पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

सूत्रार्थ—उपबृंहण गुण के लिये मार्दव, क्षमा आदि भावना द्वारा सदा अपनी आत्मा का धर्म बढ़ाना चाहिये और दूसरे के दोषों को भी गुप्त रखना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५॥

सूत्रार्थ—स्वयं शुद्ध मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थ जीवों द्वारा उत्पन्न हुवी निन्दा को जो दूर करते हैं। उसको उपगूहन अंग कहते हैं।

श्रीअमितगतिश्रावकाचार में कहा है

यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं
कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः ।
सर्वथाप्यवति धर्मबुद्धितः
कोविदास्तमुपगूहकं विदुः ॥७७॥

सूत्रार्थ—जो निर्मलबुद्धिपुरुष कर्म के उदयकरि उपज्या ज्यों यतिजननि का दूषण ताहि देखकर धर्मबुद्धि तैं सर्व प्रकार गोपे है ताहि पंडितजन उपगूहन कहै हैं अर्थात् जो पर के दोष वा अपने गुण ढांकना सो उपगूहण अंग जानना तथा इस ही अंग का नाम उपबृंहण भी कह्या तथा 'आत्म शक्ति का पुष्ट करना' अर्थ ग्रहण किया है।

दसवां अवान्तर अधिकार

स्थितिकरण अंग सूत्र १५५५ से १५७० तक १६

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तद् नाधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥१५५५॥

सूत्रार्थ—स्थितिकरण नामा गुण भी सम्यग्दृष्टि आत्मा का है। धर्म से च्युत को धर्म में स्थिर करना वह स्थिति करण है। अधर्म के नाश से अधर्म में पुनः स्थित करना वह स्थितिकरण नहीं है (अस्ति नास्ति से लिखा है)।

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥१५५६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—वृद्ध पुरुषों के द्वारा धर्म के लिये अधर्म का सेवन प्रमाणिक नहीं माना गया है। कोई २ मन्द बुद्धिवाले (अज्ञानी) भावि धर्म की आशा से पाप (अधर्म) के सेवन को कहते हैं।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत् ॥१५५७॥

सूत्रार्थ—अधर्म सेवन परम्परा से धर्म का कारण है इस पक्ष का भी यहां लेश मात्र अवकाश (स्थान) नहीं है। क्योंकि मूर्ख को छोड़ कर दूसरा कौन प्राणी मोह से शीत के लिये अग्नि में प्रवेश करेगा? अर्थात् कोई नहीं।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥१५५८॥

सूत्रार्थ—पहले अधर्म का सेवन करना यह धर्म का पूर्वरूप नहीं है क्योंकि अधर्म सेवन रूप हेतु का विपक्षभूत अधर्म प्राप्ति में भी रह जाने से व्यभिचारी है। इसलिये अधर्म सेवन और धर्म प्राप्ति की व्याप्ति भी व्यभिचारित है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥१५५९॥

सूत्रार्थ—प्रत्येक सूक्ष्म समय में कर्म उदय के कारण से स्वयं धर्म अथवा अधर्म दोनों होते रहते हैं यह सर्वत्र निश्चय है।

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्या तत् ॥१५६०॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष स्व और पर के भेद से वह स्थितिकरण दो प्रकार का है। अर्थात् अपनी आत्मा का अपनी आत्मा में स्थित करना स्वस्थितिकरण है और दूसरे की आत्मा में स्थित करना—परस्थिति-करण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥१५६१॥

सूत्रार्थ—स्थितीकरण के उन दोनों भेदों में से जो मोह के उदय के उद्रेक (तीव्रता) से अपनी स्थिति से च्युत हुवे अपनी आत्मा को फिर से अपनी आत्मा में स्थापित करना है वह स्व का स्थितिकरण है ।

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥१५६२॥

सूत्रार्थ—भाव यह है कि कभी कर्म उदय से वह सम्यग्दर्शन से नीचे गिर जाता है और फिर कर्म से (कर्म के उपशमादि से) सम्यग्दर्शन को भले प्रकार पाकर फिर ऊपर चढ़ जाता है ।

अथ क्वचिद्यथाहेतु दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोऽधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥१५६३॥

सूत्रार्थ—और कभी कारण के अनुसार दर्शन से नहीं गिरता हुवा भी भावों की शुद्धि को नीचे नीचे के अंशों से ऊपर २ को बढ़ाता है ।

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुंचति ।
न मुँचति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥१५६४॥

सूत्रार्थ—और कभी बहिरंग स्वीकृत शुभाचार को भी छोड़ देता है । कभी नहीं छोड़ता है । अथवा कभी छोड़ कर फिर से ग्रहण कर लेता है ।

यद्वा बहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेऽपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥१५६५॥

सूत्रार्थ—अथवा बाह्य क्रियाचार में यथा अवस्थित स्थित रहने पर भी कभी २ अन्तरंग भावों से देदीप्यमान हो करके वर्तता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥१५६६॥

सूत्रार्थ—यह कथन असम्भव नहीं है क्योंकि चारित्रावरण का उदय तरतमरूप अपने अंशों से हीनाधिक अवस्था को यहां प्राप्त होता रहता है ।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥१५६७॥

सूत्रार्थ—यहां इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितिकरण स्वतः ही होता है यदि न्यायानुसार यहां कोई अन्य कारण है (ऐसा मानोगे तो उस कारण के लिये अन्य कारण और उस अन्य कारण के लिये भी अन्य कारण करते हुवे) अनवस्था नाम का दोष वहां आवेगा ।

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥१५६८॥

सूत्रार्थ—दूसरों का स्थितिकरण नामा अंग यह है कि उत्तम दया भाव से अपने पद संभ्रष्ट हुए जीवों को उस पद में वहीं फिर स्थापित कर देना ।

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥१५६९॥

सूत्रार्थ—धर्म के आदेश और उपदेश के द्वारा ही दूसरे पर अनुग्रह करना चाहिये किन्तु अपने व्रत को छोड़कर दूसरे की रक्षा में तत्पर न होवे ।

कहा भी है

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठू कादव्वं ॥
आत्महितं कर्तव्यं यदि शक्यं परहितं च कर्तव्यं ।
आत्महितपरहितयोः आत्महितं सुष्ठु कर्तव्यं ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रार्थ—पहले आत्महित करना चाहिये। यदि शक्य हो तो पर हित भी करना चाहिये। किन्तु आत्महित और परहित इन दोनों में से आत्महित भले प्रकार करना चाहिये (यह मूलसूत्र किस आगम का है यह हमें ज्ञात न हो सका)।

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥१५७०॥

सूत्रार्थ—यहां नाम मात्र से सुस्थितीकरण गुण भी कहा जो सम्यग्दृष्टी आत्मा का गुणश्रेणी निर्जरा में प्रसिद्ध गुण है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा का भाव कभी, सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र से डिग जाता है तो पुनः अपने को उसी में स्थित कर लेता है और दूसरे को डिगा देख कर तो मात्र उसे समझाया जा सकता है। पर में कुछ किया तो जा नहीं सकता। स्थितिकरण तो वह भी अपना अपने द्वारा ही करेगा। दूसरे के स्थिति करण कराने में कभी अपने रत्नत्रय में हानि नहीं आने देना चाहिये क्योंकि जैन मार्ग में स्वहित मुख्य है। नास्ति का कथन यह है कि अधर्म का सेवन वर्तमान में या भावि में धर्म स्थिति का कारण नहीं है। यहां गुरुदेव का आशय अपनी उन हिंसात्मक बातों से है जिनको जगत धर्म समझ कर करता है जिनका दिग्दर्शन उन्होंने श्री पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में दिखाया है जैसे हिंसक जीवों को मारने में धर्म मानना, यज्ञ में हिंसा करने में धर्म मानना इत्यादिक।

श्री समयसार जी में कहा है

उम्मग्गं गच्छंतं सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता उन्मार्ग में जाते हुवे अपने आत्मा को भी मार्ग में स्थापित करता है वह स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि जानना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण, यदि अपना आत्मा मार्ग से (सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रूप मोक्ष मार्ग से) च्युत हो तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है इसलिये स्थितिकारी (स्थिति करने वाला) है।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥

सूत्रार्थ—काम, क्रोध, मद, लोभादि भावों के उत्पन्न होने पर न्याय मार्ग से च्युत होने के लिये तत्पर अपने को और पर को शास्त्रानुसार युक्ति से पुनः न्याय मार्ग में ही स्थिर करना चाहिये।

श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥

सूत्रार्थ—धर्म प्रेमी जीवों द्वारा सम्यग्दर्शन से अथवा चारित्र से भी डिगते हुओं को उस में स्थित कर देना बुद्धिमानों के द्वारा स्थिति करण अंग कहा जाता है।

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

निवर्त्तमानं जिननाथवर्त्मनो
निपीड्यमानं विविधैः परीषहैः।
विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं
निरुच्यतेऽसौ स्थितिकारकोत्तमः ॥७८॥

सूत्रार्थ—जो नाना प्रकार परीषहनि करि पीड़ित भया संता जिननाथ के मार्ग तैं चिगते पुरुष कौं देख करि तिस जिनमार्ग विषैं निश्चल करैं सो यहु स्थिति करने वाला उत्तम कहिये है अर्थात् जिन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मतें वा आत्म स्वरूप तें आपकों वा परकों चिगते कों स्थिर करना स्थितिकरण अंग कह्या है।

ग्यारहवां अवान्तर अधिकार

वात्सल्य अङ्ग का वर्णन सूत्र १५७१ से १५७६ तक ६

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥१५७१॥

सूत्रार्थ—सिद्ध-अरहन्त-प्रतिमा, जिन मन्दिरों में, चार प्रकार के संघ में और शास्त्र में दासपना (का भाव रखना) वात्सल्य नामक अङ्ग है जैसे स्वामि कार्य में योग्य सेवक दासत्व भाव रखता है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥१५७२॥

सूत्रार्थ—अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि उक्त प्रतिमादि में से किसी एक के ऊपर घोर उपसर्ग के आने पर उसके दूर करने में अत्यन्त तत्पर रहता है।

यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम्।
तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥१५७३॥

सूत्रार्थ—यदि अपनी सामर्थ्य न हो तो जब तक मन्त्र तलवार और धन है तब तक वह (सम्यग्दृष्टि) उन की बाधा (उपसर्ग को देखने के लिये और सुनने के लिये नहीं सह सकता है।

तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचात्।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥१५७४॥

सूत्रार्थ—और वह वात्सल्य स्व और पर के विषय के भेद से दो प्रकार है। उन में अपनी आत्मा से संबधं रखने वाला वात्सल्य प्रधान है और जो सम्पूर्ण पर आत्माओं में वात्सल्य है गौण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥१५७५॥

सूत्रार्थ—परीषह और उपसर्गादि के द्वारा पीड़ित होते हुवे भी जो किसी शुभाचार में, ज्ञान में और ध्यान में शिथिलता नहीं आने देना वह पहला (स्वात्मसम्बन्धी) वात्सल्य है ।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो वाधापकर्षणम् ॥१५७६॥

सूत्रार्थ—दूसरा वात्सल्य इस ग्रन्थ में पहले कहा गया है । वह भी सम्यग्दृष्टि का प्रगट गुण है क्योंकि शुद्ध ज्ञान के बल से ही बाधा दूर की जा सकती है ।

भावार्थ—अपने रत्नत्रय में इतनी प्रीति होना कि उसके लिये हर प्रकार के कष्ट और आपत्ति को खुशी से सहना यह स्व वात्सल्य है । देव शास्त्र गुरु की इतनी प्रतीति होना कि उनके उपसर्गों को तन मन धन, जन्त्र, मन्त्र, तलवार इत्यादिक के द्वारा किसी प्रकार से दूर करने के लिये अपनी पर्याय के नाश तक की परवाह न करना परवात्सल्य है और जो सम्यग्दृष्टि विशेष ज्ञान के क्षयोपशम का धारी होता है वह तो अपने ज्ञानोपदेश रूपी अमृत से ही उनके उपसर्गों को दूर करा देता है । निश्चय से वह जानता है कि कोई किसी की बाधा दूर नहीं कर सकता फिर भी उसको अपनी भूमि के अनुसार दूर करने का विकल्प आये बिना नहीं रहता ऐसा ही वस्तु स्वभाव है ।

श्रीसमयसार जी में कहा है

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों (साधनों) के प्रति वात्सल्य करता है वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वात्सल्यभाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एकज्ञायक भावमयता के कारण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (अनुभवन करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीति वाला है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—मोक्ष सुख की सम्पदा के कारणभूत अहिंसामयी धर्म में और सब सार्धमियों में निरन्तर उत्कृष्ट प्रीति रखना चाहिये।

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

स्वयूथ्यान्प्रतिसद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७॥

सूत्रार्थ—अपने सार्धमियों के प्रति छलकपटरहित सद्भाव युक्त यथायोग्य आदर सत्कार वात्सल्य कहा जाता है।

श्रीअमितगतिश्रावकाचार में कहा है

करोति संघे बहुधोपसर्गं—
रुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः।
चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो
वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः ॥७९॥

सूत्रार्थ—मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका ऐसे च्यार प्रकार संघकौं बहुत प्रकार उपसर्गकरि पीडित भये संते जो वांछारहित धर्मबुद्धि करि निर्मल वैयावृत्त्याचार करै है सो सम्यग्दृष्टि वात्सल्य करने वाला कहा है अर्थात् जिनधर्मनिविषैं वा आत्मस्वरूपविषैं अति प्रीति करना सो वात्सल्य अंग जानना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारहवां अवान्तर अधिकार

प्रभावना अंग का वर्णन सूत्र १५७७ से १५८५ तक ९

प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥१५७७॥

सूत्रार्थ—प्रभावना नामक अंग भी निश्चय से सम्यग्दर्शन का गुण है जो (धर्म का) उत्कर्ष (बढ़ाव) करने रूप लक्षण से लक्षित है।

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥१५७८॥

सूत्रार्थ—और अधर्म के पक्ष में पाप का किंचित् भी (उत्कर्ष) नहीं करना चाहिये क्योंकि अधर्म के उत्कर्ष की पुष्टि करने से धर्म पक्ष की क्षति होती है (अस्ति नास्ति से लिखा है)।

पूर्ववत्सोऽपिद्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः ।
तत्राद्यो वरमादेयः समादेयः परोऽप्यतः ॥१५७९॥

सूत्रार्थ—पहले की तरह वह (प्रभावना अंग) भी स्वात्म-परात्म के भेद से दो प्रकार का है। उनमें पहला श्रेष्ठ है—उपादेय है और दूसरा इस के बाद अर्थात् गौण रूप से उपादेय है।

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे ।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥१५८०॥

सूत्रार्थ—विरोधियों (विरोधी कारणों) के नहीं रहने पर जो धर्म में बल (पुरुषार्थ) की अधिकता से अधिकता की जाती है वह उत्कर्ष है। वह कहीं भी दोष के लिये समर्थ नहीं है।

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥१५८१॥

सूत्रार्थ—कोई जीव मोह रूपी शत्रु के नाश होने से शुद्ध है। फिर शुद्ध से शुद्धतर है, फिर शुद्धतम है यह (उत्तर उत्तर शुद्धता का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्कर्ष ही) आत्म प्रभावना है।

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥१५८२॥

सूत्रार्थ—यह (आत्मोत्कर्ष) पुरुषार्थ के आधीन नहीं है किन्तु वास्तव में स्वभाव से है क्योंकि जैसे २ ऊपर २ गुण श्रेणी में निर्जरा है वैसे २ उत्तर २ (शुद्धि के उत्कर्ष) की सिद्धि है।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥१५८३॥

सूत्रार्थ—बाह्य प्रभावना अंग यह है कि विद्या मन्त्र-आदि बलों से और तप दान-आदि से जैन धर्म का उत्कर्ष किया जाये।

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥१५८४॥

सूत्रार्थ—मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले दूसरों (अन्य मतियों) के अपकर्ष करने के लिये जो कुछ चमत्कार करने वाला कार्य है वह भी महात्माओं के द्वारा करने योग्य है।

उक्तः प्रभावनांगोऽपि गुणः सद्दर्शनान्वितः।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥१५८५॥

सूत्रार्थ—प्रभावना अंग भी कहा जो सम्यग्दर्शन से अन्वित (अन्वय रूप से रहने वाला) गुण है। जिससे सम्यग्दर्शन के आठों गुण (अंग) सम्पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि अपने रत्नत्रय को बढ़ाने का नित्य प्रयत्न करता ही है यह निश्चय प्रभावना है। बहिरंग में शास्त्र लिख कर, प्रवचन द्वारा, पढ़ा कर जिस प्रकार से भी हो जैन मार्ग के उत्कर्ष का ही विकल्प आया करता है। यदि धनाढ्य सम्यग्दृष्टि होता है तो दान, पूजा, प्रतिष्ठा, जिनमन्दिर निर्माण आदि से जैन धर्म के उत्कर्ष का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाव भी उसे आये बिना नहीं रहता। अपनी शक्ति-अनुसार हर प्रकार से सम्यग्दृष्टियों को धर्म की प्रभावना का उत्साह रहता है किन्तु अपने रत्नत्रय में जिस प्रकार बाधा न आये और उसका भी उत्कर्ष होता जाये ऐसा कार्य वह करता है। साथ में चाहे अज्ञानियों द्वारा कितनी भी आपत्ति सहनी पड़े पर सम्यग्दृष्टि पाप के कार्यों की वृद्धि में कभी अपना सहयोग नहीं देता।

श्रीसमयसार जी में कहा है

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३६॥

सूत्रार्थ—जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुवा (चढ़ा हुवा) मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलने के मार्ग में) भ्रमण करता है वह जिनेन्द्रभगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। भाव यह है कि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने-विकसित करने-फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिये वह प्रभावना करने वाला है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

सूत्रार्थ—निरन्तर ही रत्नत्रय के तेज से अपना आत्मा प्रभावना युक्त करना चाहिये अर्थात् निरन्तर अपने रत्नत्रय में वृद्धि करना निश्चय से स्वप्रभावना अङ्ग है। दान, तपश्चरण, जिनपूजा और ज्ञान के अतिशय से जिनधर्म प्रभावनायुक्त करना चाहिये अर्थात् धनवान् हो तो दान, जिन पूजा प्रतिष्ठा आदि कार्यों से, तपस्वी हो तो तप की अधिकता से, ज्ञानी हो तो प्रवचन, शास्त्र निर्माण, पठन पाठन से जिनधर्म बढ़ाना यह व्यवहार से पर प्रभावना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा है

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८॥

सूत्रार्थ—अज्ञान रूपी अंधकार के फैलाव को दूर करके यथा-योग्य जिनशासन के महात्म्य को प्रकाश करना प्रभावना अंग है।

श्री अमितगतिश्रावकाचार में कहा है

निरस्तदोषे जिननाथशासने
प्रभावनां यो विदधाति शक्तितः ।
तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः
प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥८०॥

सूत्रार्थ—दूरि भये हैं रागादिक दोष जाके ऐसा जो जिननाथ का शासन ताविषैं जो शक्तिसारू तप दया ज्ञान महोत्सव इत्यादिकनि करि प्रभावनाकौं करै हैं उद्योत करै है सो यहु सम्यग्दृष्टी प्रभावना करने वाला कह्या है। सर्व जीव मानैं कि जिनमत धन्य है तामे ऐसे तपश्चरणादि पाइए है, ऐसे तपश्चरणादि करि जिनमत का उद्योत करणा तथा निश्चयतैं आत्माकूं रत्नत्रयतैं आभूषित करना सो प्रभावना अंग जानना।

उपसंहार १५८६–८७–८८=३ खास

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः ।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥१५८६॥

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा के ये श्रद्धा आदि गुण हैं जो सूत्र ११७८ से १५८५ तक निरूपण किये गये हैं तथा और भी अनेक गुण होते हैं। उनके विचार से बस (क्योंकि वे विकल्पात्मक हैं)। जो विवक्षित अर्थात् परम आवश्यक बात है, वह बात अब कही जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः ।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥१५८७॥

सूत्रार्थ—वह परम आवश्यक बात इस प्रकार है कि चेतना आत्मा का निज स्वरूप है। वह चेतना तीन प्रकार की है तो भी यहां सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना उपादेय है अर्थात् सम्यग्दृष्टी के ज्ञान चेतना समझनी चाहिये, अन्य दो नहीं और वह ज्ञान चेतना ही सम्यग्दर्शन का वास्तविक लक्षण है क्योंकि वह राग रहित वस्तु है।

श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥१५८८॥

सूत्रार्थ—ये श्रद्धान-आदिक गुण बाह्य उल्लेख सहचर के छल से इस सम्यग्दर्शन के लक्षण कहे गये हैं किन्तु वास्तव में तो सम्यग्दर्शन का एक लक्षण ज्ञान चेतना ही है (ज्ञान चेतना कहो या आत्मानुभूति कहो, एक ही बात है)।

भावार्थ—वास्तव में तो आत्मभूत सम्यग्दर्शन वही है जो श्रद्धा गुण की पर्याय है जिसका निरूपण सर्व प्रथम सूत्र ११४३ से ११५३तक किया है। दूसरे नम्बर पर सम्यग्दर्शन का लक्षण शुद्ध स्वात्मानुभूति अर्थात् ज्ञान चेतना है। यह लक्षण सम्यग्दर्शन का अविनाभूत है और चौथे से सिद्ध तक सब जीवों में पाया ही जाता है। अतः अव्याप्ति दोष नहीं है। किसी भी मिथ्यादृष्टि में चाहे वह ग्यारह अंग का पाठी या महाव्रती मुनि ही क्यों न हो, नहीं पाया जाता अतः अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है। विना आत्मानुभव कैसा सम्यग्दृष्टि, अतः असंभव दोष भी नहीं है। मिथ्यादृष्टि का लक्षण जो कर्म चेतना और कर्मफल चेतना है उसका सम्यग्दृष्टि कर्ता भोक्ता न होने से वह दोष भी इस लक्षण में नहीं आता है और अन्य सब गुण इसके पेट में आ जाने से यही मुख्यतया सम्यग्दृष्टि का प्रधान लक्षण है जिसका विवेचन ग्रन्थकार ने सूत्र ११५५ से ११७७तक किया है तथा चौथी पुस्तक में भी बहुत किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री समयसार की रचना तो सारी की सारी इसी लक्षण के आधार पर है। उस शास्त्र में तो सम्यग्दर्शन का केवल यही एक लक्षण स्वीकार किया गया है। अब गुरुदेव एक और मार्मिक और रहस्य की बात समझाते हैं कि सूत्र ११७८ से १५८५ तक जो सम्यक्त्व के लक्षण कहे गये हैं वे वास्तव में चारित्र गुण के विकल्प हैं, विकार हैं, पुण्य भाव हैं, आस्रवतत्त्व हैं अथवा विकल्पात्मक ज्ञान की दशा होने से उन्हें ज्ञान की पर्याय भी कह देते हैं। पर ये सहचर चिन्ह हैं। सम्यग्दृष्टियों में नीचे की भूमिकाओं में पाये जाते हैं ऊपर नहीं पाये जाते तथा आभास रूप से मिथ्यादृष्टियों में भी पाये जाते हैं। अतः ये वास्तविक लक्षण नहीं हैं। तथा इन लक्षणों में से किसी सम्यग्दृष्टि में किसी बात की आधिक्यता रहती है; किसी में किसी दूसरी बात की आधिक्यता रहती है। कोई २ बात किसी २ सम्यग्दृष्टि में अत्यन्त गौण भी रहती है तथा कभी किसी की मुख्यता हो जाती है, कभी किसी की। अतः ये परीक्षा के योग्य लक्षण नहीं हैं, पर आगम तथा लोकव्यवहार में लक्षण रूप से प्रसिद्ध हैं अतः हमने निरूपण कर दिये हैं तथा इनके निरूपण से एक यह भी लाभ है कि सम्यग्दृष्टि का अन्तरंग,बहिरंग सब झलक जाता है। उसका शुद्ध भाव कैसा है, ज्ञान कैसा है, चारित्र कैसा है, विकल्प कैसा है, संयोग कैसा है, कैसे संयोगों में वह रहना चाहता है, किन कार्यों से उसे घृणा है इसका स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य की बुद्धि का कमाल है। हम तो उन पर मुग्ध हैं। जिस विषय को भी उठाया है। सर्वांग-दर्शन करा दिया है। क्या सम्यग्दर्शन का सांगोपांग निरूपण किया है। द्रव्यगुण पर्याय से स्पष्ट समझ में आ जाता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव के गणधर का काम किया है। उनके अन्तरंग पेट को जानने का इन्हें गजब का अभ्यास था। क्या सम्यग्दर्शन का सर्वांग निरूपण आत्म-भूत, अनात्मभूत, सहचर इत्यादिक रूप से किया है। बलिहारी है, उस महात्मा को कोटिशः नमस्कार द्वारा ही उन के उपकार को प्रगट करते हैं और उनके उपकार को किस प्रकार प्रगट करें कोई साधन नहीं है। मन का उल्लास भाव तो बहुत है जय हो श्रीअमृतचन्द्र गुरुदेव की।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिशिष्ट

सम्यक्त्व के लक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन

श्रीसमयसार जी में कहा है

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

अर्थ—भूतार्थ नय से जाने हुवे जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ तत्त्व सम्यक्त्व हैं। भाव यह है कि नौ तत्त्व में अन्वय रूप से पाये जाने वाले सामान्य का अनुभव सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन का स्वात्मानुभूति रूप अनात्मभूत लक्षण है; जिसका हमारे नायक श्री पंचाध्यायीकार ने सूत्र नं० ११५५ से ११७७ तक २३ सूत्रों में विवेचन किया है।

श्रीनियमसार जी में कहा है

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥५॥
विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ॥५१॥
चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त ॥५२॥

अर्थ—आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा से सम्यक्त्व होता है ॥५॥ विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय-आग्रह) रहित श्रद्धान वह ही सम्यक्त्व है ॥५१॥ चलता, मलिनता और अगाढता रहित श्रद्धान वह ही सम्यक्त्व है ॥५२॥ इसमें श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन रूप स्वभाव पर्याय का वर्णन इस ग्रन्थ में सूत्र ११४३ से ११५३ तक ११ सूत्रों में है।

श्री पंचास्तिकाय पन्ना १६९ श्री जयसेन टीका में कहा है:—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्य भावदो भावे ।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदिजुत्ते ॥१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं जिनप्रज्ञप्तान् श्रद्दधतः भावतः भावान् ।
पुरुषस्य आभिनिबोधे दर्शनशब्दः भवति युक्तः ।।

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये पदार्थों को भाव पूर्वक श्रद्धान करने वाले पुरुष के मति (श्रुत) ज्ञान में दर्शनशब्द प्रयुक्त होता है। इस लक्षण में निरूपण तो श्रद्धा गुण की असली सम्यग्दर्शन पर्याय का है किन्तु वह नीची भूमि वाले सम्यग्दृष्टि के विकल्पात्मक ज्ञान की सहचर करके निरूपण किया गया है क्योंकि लेखक को आगे सम्यग्दृष्टि के ज्ञान के ज्ञेयभूत नौ पदार्थों का वर्णन करना था और उनकी भूमिका रूप यह सूत्र रचा गया है। इसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र नं० ११७८ से ११९१ तक १४ सूत्रों में किया है।

श्रीप्रवचनसार जी सूत्र २४२ की टीका में कहा है

"ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण"

अर्थ—ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की तथाप्रकार (जैसी है वैसी ही, यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है……। यहां सम्यग्दर्शन रूप असली पर्याय का निरूपण है। स्व पर श्रद्धान लक्षण से उसे निरूपण किया है। यह लक्षण हमारे नायक ने सूत्र ११७८ से ११९१ में निरूपण किया है।

श्रीदर्शनप्राभृत में कहा है

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ।।२०।।

अर्थ—जीव आदि कहे जे पदार्थ तिनिका श्रद्धान सो तौ व्यवहार तैं सम्यक्त्व जिन भगवान नैं कह्या है, बहुरि निश्चयतैं अपना आत्मा ही का श्रद्धान सो सम्यक्त्व है। वहां व्यवहार सम्यक्त्व तो विकल्प रूप है जो निश्चय सम्यग्दर्शन का अविनाभावी चारित्र गुण का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विकल्प है। उसको ज्ञान की विकल्पात्मक पर्याय भी कह सकते हैं इस का निरूपण हमारे नायक ने सूत्र ११७८ से ११९१ तक किया है। नीचे की पंक्ति में सम्यक्त्व का स्वात्मानुभूति लक्षण है जिसको निश्चय सम्यक्त्व कहा है इसका निरूपण यहां सूत्र ११५५ से ११७७ तक २३ सूत्रों में किया है।

श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय जी में कहा है

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥२२॥

अर्थ—जीव अजीव आदि नौ तत्त्वों का श्रद्धान सदा करना चाहिये। वह श्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित है और वह 'आत्मरूप' है। आत्मरूप राग को नहीं कहते। शुद्ध भाव को ही कहते हैं। यह लक्षण श्रद्धा गुण की असली सम्यग्दर्शन पर्याय का है। आरोपित नहीं है। जिसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र ११४३ से ११५३ तक ११ सूत्रों में किया है।

श्रीद्रव्यसंग्रह जी में कहा है

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जह्मि ॥४१॥

अर्थ—जीवादि नौ तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और वह आत्मा का रूप है। जिसके होने पर निश्चय करके ज्ञान विपरीताभिनिवेश (मिथ्या अभिप्राय) से रहित सम्यक् हो जाता है। यह लक्षण ज्यों का त्यों ऊपर के श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा श्री नियमसार से मिलता है। आत्मरूप लिखकर इसमें आरोपित लक्षणों का तथा राग का निषेध कर दिया है और श्रद्धा गुण की असली स्वभाव पर्याय रूप सम्यग्दर्शन का द्योतक है। उसके होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है यह उसका लाभ है। इसका निरूपण इस ग्रन्थ में सूत्र ११४३ से ११५३ तक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार जी में कहा है

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ—सच्चे देव, आगम, और गुरुवों को तीन मूढ़ता रहित, आठ मद रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण उपर्युक्त श्री नियमसार के लक्षण से लिया गया है। है तो यह असली सम्यग्दर्शन का लक्षण, पर सम्यग्दर्शन के अविनाभावी चारित्र गुण के बुद्धिपूर्वक विकल्प पर आरोप करके निरूपण किया है क्योंकि उन्हें चरणानुयोग का ग्रन्थ बनाना इष्ट था। इसका निरूपण हमारे नायक ने सूत्र ११७८ से १५८५ तक किया है।

श्रीमोक्षशास्त्र जी में कहा है

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"—सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। है तो यह भी असली सम्यग्दर्शन का लक्षण पर अविनाभावी विकल्पात्मक ज्ञान की पर्याय का सहचर करके निरूपण किया है क्योंकि उन्होंने सात तत्त्वों के ज्ञान कराने के उद्देश्य से ग्रन्थ लिखा है। शेष सब ग्रन्थों के लक्षण उपर्युक्त सब लक्षणों के पेट में ही आ जाते हैं तथा उपर्युक्त के समझ लेने से पाठक अन्य पुस्तकों के लक्षणों को स्वयं समझ जाता है।

निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन

यह विषय समझना परमावश्यक है और हम उसपर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं। यह विषय वास्तविक रूप में उसी को समझ आयेगा जिसको द्रव्य गुण पर्याय का अच्छा ज्ञान होगा। इस विषय में जितनी भी भूल जगत् में चलती है वह सब द्रव्य गुण पर्याय की अज्ञानता के कारण चलती है। अस्तु (१) आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य इत्यादि अनन्त गुणों की तरह एक सम्यक्त्व नाम का गुण है। इसको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धा गुण भी कहते हैं। इसकी केवल छः पर्यायें होती हैं (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र अर्थात् सम्यक् मिथ्यात्व (४) औपशमिक सम्यग्दर्शन (५) क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन (६) क्षायिक सम्यग्दर्शन। सातवीं कोई पर्याय इस गुण में नहीं होती। व्यवहार सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्दर्शन नाम का कोई पर्याय भेद इस गुण में है ही नहीं। यह सिद्धान्त पद्धति है। केवल ज्ञान के आधार पर इसका निरूपण होता है। इस पद्धति में एक गुण की पर्याय का आरोप दूसरे गुण पर नहीं होता किन्तु प्रत्येक गुण का भिन्न २ विचार किया जाता है। इस पद्धति में क्षायिक सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन भी कहते हैं और औपशमिक तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को सराग सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। इस प्रकार सराग और वीतराग सम्यग्दर्शन दोनों श्रद्धा गुण की वास्तविक पर्याय बन जाती हैं। यह पद्धति श्रीराजवार्तिक जी में है तथा श्री अमितगतिश्रावकाचार में यह श्लोक है:—

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमंपरं द्वयम् ॥६५॥

अर्थ—वीतराग अर सराग ऐसें सम्यक्त्वदोय प्रकार कह्या है। तथा क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग है और क्षयोपशम, उपशम ए दोय सम्यक्त्व सराग हैं।

(२) अध्यात्म में पहली तीन पर्यायों को सामान्यतया मिथ्यादर्शन कहा जाता है और पिछली तीन पर्यायों को सामान्यतया सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अथवा यूँ भी कह सकते हैं कि सासादन और सम्यक् मिथ्यात्व का अध्यात्म में निरूपण नहीं होता केवल मिथ्यात्व पर्याय का निरूपण होता है जो श्रद्धा गुण की विभाव या विपरीत पर्याय कही जाती है क्यों कि अध्यात्म का निरूपण ऐसे ढंग से होता है जो हम लोगों की पकड़ में आसके। उसी प्रकार औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का प्रायः अध्यात्म में निरूपण नहीं होता केवल क्षायिक सम्यक्त्व का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरूपण होता है (प्रमाण श्री नियमसार गा० ५१, ५२) जो श्रद्धा गुण की स्वभाव अर्थात् सीधी पर्याय कही जाती है। यह पर्याय वास्तविक सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थ श्रद्धान या आत्म श्रद्धान इस का लक्षण है। इस पर्याय में निश्चय व्यवहार का कोई भेद नहीं है। गुणभेद करके केवल श्रद्धागुण की अपेक्षा यदि जानना चाहते हो तो बस सम्यग्दर्शन के बारेमें इतनी ही बात है। (३) अब अभेद की दृष्टि से कुछ निरूपण करते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय चौथे में ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। उस ज्ञान गुण का परिणमन उपयोग रूप है। यह उपयोग किसी समय स्व को जानता है तो किसी समय पर को जानता है। जिस समय चौथे में ही उस सम्यग्दृष्टि आत्मा का ज्ञानोपयोग सब पर ज्ञेयों से हटकर केवल आत्मसंचेतन करने लगता है उस समय उसको स्वात्मानुभूति कहते हैं। उस समय बुद्धिपूर्वक विकल्प (राग) नहीं होता। आत्मा का उपयोग केवल स्व सन्मुख होकर अपने अतीन्द्रिय सुख का भोग करता है। इस ज्ञान की स्वात्मानुभूति को अखण्ड आत्मा होने के कारण 'सम्यग्दर्शन' भी कह देते हैं पर इतना विवेक रखना चाहिये कि यह मति श्रुत ज्ञान की पर्याय है। श्रद्धा गुण की पर्याय नहीं है। और इसको सम्यग्दर्शन कहना सम्यग्दर्शन का अनात्मभूत लक्षण है आत्मभूत लक्षण नहीं है। क्योंकि इस स्वात्मानुभूति में बुद्धिपूर्वक विकल्प (राग) नहीं होता अतः इसको निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहा जाता है। सम्यग्दर्शन के साथ निश्चय विशेषण लगाने से बुद्धिपूर्वक राग का निषेध हो जाता है और वह स्वात्मानुभूति दशा का द्योतक हो जाता है। श्रीसमयसार जी में इस पद्धति का निरूपण है। वह दशा चौथे में भी होती है, पांचवें छठे में भी होती है तथा सातवें से सिद्ध तक तो है ही स्वात्मानुभूति रूप दशा (प्रमाण श्री आत्मा व लोक० पन्ना १६५-१६६)।

(४) जिस समय सम्यग्दृष्टि का ज्ञान स्वात्मानुभूति से छूट कर पर में जाता है और जीवादि नौ पदार्थों को भेदरूप जानता है। उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय उसके ज्ञान में बुद्धिपूर्वक राग भी आ जाता है। अतः उस समय बुद्धिपूर्वक ज्ञान की अपेक्षा तथा नौ तत्त्वों को भेद सहित और रागसहित जानने के कारण उस ज्ञान के परिणमन को अखण्ड आत्मा होने के कारण व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इस में सम्यग्दर्शन शब्द तो यह बताता है कि ज्ञान श्रद्धा गुण की सम्यक्त्व पर्याय को लिये हुये है। और व्यवहार शब्द यह बतलाता है कि उस ज्ञान में बुद्धिपूर्वक राग भी है। यह जो नौ पदार्थों के जानने रूप ज्ञान की पर्याय को व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है वहां यह विवेक रहना चाहिये कि यह सम्यक्त्व का सहचर लक्षण है और वस्तुस्थिति उपर्युक्त अनुसार है यह भी सम्यक्त्व निरूपण की पद्धति है। तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन इसी पद्धति से कहा जाता है।

(५) सम्यग्दृष्टि आत्मा में सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय चारित्र भी सम्यक्चारित्र हो जाता है। जिस समय चौथे से ही सम्यग्दृष्टि आत्मा उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति करता है उस समय इस गुण में अबुद्धिपूर्वक तो राग रहता है पर बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहता। अतः स्वात्मानुभूति के समय जब सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वको निश्चय सम्यक्त्व कहा जाता है तो उस में इसगुण का वीतराग अंश भी समाविष्ट है। जिससमय स्वात्मानुभूतिसे छूटकर सम्यग्दृष्टि आत्मा पर में प्रवृत्त होता है जैसे पूजा, पाठ, शास्त्र स्वाध्याय प्रवचन इत्यादि में। उस समय इस गुण में बुद्धिपूर्वक राग का परिणमन रहता है। इस बुद्धिपूर्वक विकल्प को व्यवहार सम्यक्त्व या व्यवहार ज्ञान कह देते हैं। पर कहते हैं उसी जीव में, जिसमें दर्शनमोह का उपशमादि होकर वास्तविक सम्यग्दर्शन साथ हो। मिथ्यादृष्टि के श्रद्धान या ज्ञान या चारित्र को निश्चय या व्यवहार कोई भी सम्यक्त्व नहीं कहते। यह बात बराबर ध्यान में रहनी चाहिये। जहां कहीं मिथ्यादृष्टि के व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र कह भी दिया हो तो समझ लेना चाहिये कि वहां श्रद्धाभास, ज्ञानाभास तथा चारित्राभास को व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का नाम दिया है और सम्यक् शब्द तो मिथ्यादृष्टि के लिये प्रयोग होता ही नहीं है ।

अब इस कथन को उपर्युक्त आगम प्रमाण से मिला कर दिखाते हैं । श्री समयसार जी में उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है जो मति श्रुत ज्ञान की पर्याय है पर क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि को ही होती है अतः वह कथन निर्दोष है । श्री नियमसार जी में श्रद्धा गुण की वास्तविक पर्याय को सम्यग्दर्शन कहा है उसमें निश्चय व्यवहार का भेद नहीं है । श्री पंचास्तिकाय में सम्यग्दर्शन के सहभावी विकल्पात्मक ज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है । श्री दर्शनपाहुड़ में सम्यक्त्व के अविनाभावी चारित्रगुण के बुद्धिपूर्वक विकल्प सहित ज्ञान के परिणमन को व्यवहार सम्यक्त्व कहा है और उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति को निश्चय सम्यक्त्व कहा है । श्रीप्रवचनसार में सम्यक्त्व के अविनाभावी सामान्यज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है चाहे वह ज्ञान लब्धिरूप हो या उपयोग रूप हो । श्री पुरुषार्थसिद्धि तथा श्री द्रव्यसंग्रह में श्रद्धागुण की सीधी सम्यग्दर्शन पर्याय का निरूपण है उसमें निश्चय व्यवहार का भेद नहीं है । श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यक्त्व की अविनाभावी चारित्र गुण के देव शास्त्र गुरु के विकल्पात्मक परिणमन को सम्यग्दर्शन कहा है । श्री मोक्षशास्त्र में सम्यक्त्व के अविनाभावी विकल्पात्मक ज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है श्री सर्वार्थसिद्धि में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण मिलता है वह सम्यक्त्व के अविनाभावी चारित्र गुण का विकल्पात्मक परिणमन है । श्री आत्मानुशासन में जो सम्यक्त्व के मूल सम्यक्त्व आदि दस भेद किये हैं वे अनेक निमित्तों की अपेक्षा सम्यक्त्व से अविनाभावी हैं । श्रीप्रवचनसार सूत्र २४२ की टीका में एक और ही प्रकार का व्यवहार निश्चय मिलता है । वहां अप्रमत्त दशा की बात है । अप्रमत्त दशा में रत्नत्रय में बुद्धिपूर्वक विकल्प का तो अभाव हो जाता है । और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का भिन्न २ वेदन न होकर पानकवत् एकाग्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदन होता है। सो आचार्य कहते हैं कि गुण भेद करके भिन्न २ गुण की पर्याय से यदि मोक्षमार्ग कहो तो वही व्यवहार मोक्ष मार्ग है और यदि गुण भेद न करके अभेद से कहो तो वही निश्चय मोक्षमार्ग हैं। यहां राग को व्यवहार और वीतरागता को निश्चय नहीं किन्तु पर्याय भेद को व्यवहार और पर्याय अभेद को निश्चय कहा है। श्री नियमसार तथा श्री द्रव्यसंग्रह में बहुत सुन्दर विवेचन है। उन्होंने सम्यग्दर्शन जो श्रद्धा गुण की असली पर्याय है उसे तो सम्यग्दर्शन लिखा है। उसमें निश्चय, व्यवहार का भेद नहीं किया। ज्ञान की पर्याय स्वपर के जानने रूप है। गसमें निश्वय व्यवहार का भेद नहीं किया। चारित्र गुण का परिणमन क्योंकि वीतरागरूप भी होता है और सरागरूप भी। अतः पर्याय के टुकड़े करके जितने अंश में वह चारित्रगुण शुभ विकल्प रूप परिणमन कर रहा है उतने अंश में तो उसको व्यवहार चारित्र कहा है पर सम्यक् विशेषण नहीं लगाया है। यद्यपि ज्ञानी का व्यवहार है। क्योंकि सम्यक् शब्द शुद्ध भाव के लिये ही Reserve है यह सम्यक् विशेषण केवल राग को नहीं लगाया जाता चाहे वह राग ज्ञानी का हो या अज्ञानी का। और जितने अंश में चारित्र वीतराग रूप परिणमन कर रहा है उसको निश्चय सम्यक् चारित्र कहा है। इन्होंने पूरे द्रव्य गुण पर्याय के हिसाब से लिखा है सब झगड़ा ही खत्म कर दिया है। यह विवेचन शुद्ध है अर्थात् भिन्न २ गुण भेद की पर्याय के अनुसार है। आरोप का काम नहीं है। श्री नियमसार सूत्र ५ तथा ५१–५२ की प्रथम पंक्तियों में क्षायिक सम्यक्त्व का निरूपण है। सूत्र ५१–५२ की अन्तिम पंक्तियों में सम्यग्ज्ञान का तथा ५४–५५ में चारित्र का निरूपण है। सूत्र ५६ से ७६ तक ज्ञानी के विकल्परूप शुभ व्यवहार चारित्र का विवेचन है और ७७ से १५८ तक वीतराग अंश रूप निश्चय चारित्र का वर्णन है। श्रीद्रव्यसंग्रह में सूत्र ४१ में शुद्ध सम्यग्दर्शन का, सूत्र ४२ में शुद्ध सम्यग्ज्ञान का, सूत्र ४५ में व्यवहार चारित्र का—इसमें चारित्र का सम्यक् विशेषण नहीं है यह खास देखने की बात है यद्यपि ज्ञानी का विकल्प है। सूत्र ४६ में वीतराग चारित्र का, अज्ञानी को व्यवहार भी नहीं कहा। हमें यह पद्धति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहुत पसन्द आई है। श्रीद्रव्यसंग्रहकार ने श्रीनियमसार से लिया है। श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तीनों शुद्ध भाव रूप लिये हैं। राग को अंगीकार नहीं किया बल्कि राग का तो निषेध किया है। श्री तत्त्वार्थसार में ज्ञानी मुनि की विकल्पात्मक प्रवृत्ति को व्यवहार संज्ञा दी है और निर्विकल्प मुनि को निश्चय संज्ञा दी है । श्री पंचास्तिकाय में भी यही बात है। श्रीसमयसार में शुद्ध अंश को निश्चय रत्नत्रय और राग अंग को व्यवहार कहा है पर उस राग के साथ सम्यक् विशेषण नहीं है। पं० टोडरमल जी के अन्तिम नवमें अध्याय में पर्याय के टुकड़े करके जितने अंश में शुद्ध असली सम्यक्त्व है उसको तो निश्चय सम्यक्त्व कहा है और जितने अंश में राग है अर्थात् ज्ञान में बुद्धिपूर्वक विकल्प है उसको व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। इसप्रकार दोनों प्रकार के सम्यक्त्व को एक समय में कहा है तथा उस से आगे वे लिखते हैं कि सम्यग्दृष्टि के राग पर ही व्यवहार सम्यक्त्व का आरोप आता है। मिथ्यादृष्टि के राग पर नहीं अर्थात् मिथ्यादृष्टि के राग को व्यवहार सम्यक्त्व नहीं कहते । सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले जो विकल्पात्मक नौ पदार्थ की श्रद्धा है वह मिथ्या श्रद्धा है उसको व्यवहार सम्यक्त्व नहीं कहते। आगे चलकर लिखते हैं कि जिस जीव को नियम से सम्यक्त्व होने वाला है और वह करण लब्धि में स्थित है उसकी विकल्पात्मक श्रद्धा को तो व्यवहार सम्यक्त्व कह सकते हैं क्योंकि वहां नियम से निश्चय सम्यक्त्व उत्पन्न होने वाला है। श्रीजयसेन आचार्य तथा श्रीब्रह्मदेव सूरि आदि जिन आचार्यों ने एक समय में व्यवहार निश्चय रूप दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग माना है उन्होंने तो शुद्ध दर्शन ज्ञान चारित्र पर्यायों को तो निश्चय कहा है और राग को व्यवहार कहा है और जिन्होंने भिन्न २ समय में कहा है उन्होंने सम्यग्दृष्टि मुनि की सविकल्प अवस्था को व्यवहार रत्नत्रय और निर्विकल्प अवस्था को निश्चय रत्नत्रय कहा है (बृहद्द्रव्यसंग्रह गा० ३९ की टीका इन दोनों पद्धतियों का स्पष्ट प्रमाण है) जिन्होंने एक एक समय में माना है उन्होंने राग पर कारण का आरोप कर दिया है और निश्चय तो है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही कार्य रूप और जिन्होंने सविकल्प अवस्था को कारण और निर्विकल्प अवस्था को कार्य माना है उनका आशय ऐसा है कि जो भेदसहित तत्त्वों का ज्ञाता होगा वही तो विकल्प तोड़कर निर्विकल्प दशा रूप कार्य अवस्था को प्राप्त करेगा। बाकी यह सब कहने का कार्य कारण है वास्तव में तो सामान्य आत्मा का आश्रय ही तीनों शुद्ध भावों का वास्तविक कारण है क्योंकि सामान्य में से ही तो शुद्ध रत्नत्रय प्रगट होता है और व्यवहार (राग, का कारण परवस्तु का आश्रय है क्योंकि पर में अटकने से ही तो राग की उत्पत्ति होती है। यह वास्तविक कारण है। राग और शुद्धभाव का क्या कार्यकारण? एक बन्धरूप है एक मोक्षरूप है? ये तो दोनों विरोधी हैं। विपरीत कार्य के करने वाले हैं।

कोई भी सम्यक्त्व कहो उसमें श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय का सहचर होना अवश्यंभावी है। वास्तव में सम्यग्दर्शन कई प्रकार का नहीं है किन्तु उसका निरूपण कई प्रकार का है। सम्यग्दर्शन तो श्रद्धा गुण की स्वभाव पर्याय होने से एक ही प्रकार का है। उस का कथन कहीं द्रव्यकर्म रूप निमित्त की अपेक्षा से औपशमिक आदि तीन प्रकार का है। कहीं बुद्धिपूर्वक राग के असद्भाव और सद्भाव के कारण निश्चय व्यवहार दो प्रकार का है। कहीं श्रद्धा गुण की अपेक्षा कथन है। कहीं ज्ञान गुण की अपेक्षा कथन कहीं चारित्र की अपेक्षा कथन है। सिद्धों के आठ गुणों में श्रद्धा और चारित्र दोनों की इकट्ठी एक शुद्ध पर्याय का नाम सम्यक्त्व है वहां ज्ञान को भिन्न कर दिया है और चारित्र को सम्यक्त्व में समाविष्ट कर दिया है। कहां तक कहें। कहने वाले का अभिप्राय क्या है तथा प्रकरण क्या है यह जानने की आवश्यकता है तथा द्रव्य गुण पर्याय का ठीक २ ज्ञान होना चाहिए। फिर भूल का अवकाश नहीं है। एक बात और खास यह है कि बिना असली सम्यग्दर्शन रूप पर्याय प्रगट हुवे भी मिथ्यादृष्टि जो शास्त्र के बल से तत्त्वार्थ की विकल्पात्मक श्रद्धा करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्यारह अंग तक का विकल्पात्मक ज्ञान करता है तथा छह काय के जीवों की रक्षा करता है उसकी आगम में व्यवहार कहने की पद्धति है जैसे श्री प्रवचनसार सूत्र २३९ के शीर्षक में मिथ्यादृष्टि के तीनों कहे हैं, श्री समयसार जी सूत्र २७६ में मिथ्यादृष्टि के तीनों आचारादि शास्त्र ज्ञान को ज्ञान, जीवादि के श्रद्धान को श्रद्धान और षट्काय के जीवों की रक्षा को चारित्र कह कर झट २७७ में उसका निषेध कर दिया है कि रत्नत्रय तो आत्माश्रित शुद्धभाव है यह राग रत्नत्रय नहीं हो सकता इसमें इतना विवेक रखने की आवश्यकता है कि मिथ्यादृष्टि के श्रद्धानादि को व्यवहार कहने पर भी वह व्यवहाराभास है। न व्यवहार रत्नत्रय है न निश्चय रत्नत्रय है।

श्री समयसार जी कलश नं० ६ में कहा है कि नौ तत्त्वों की विकल्पात्मक श्रद्धा को छोड़कर एक आत्मानुभव हमें प्राप्त हो। वहां भी रागवाली नौ पदार्थों की श्रद्धा से आशय है। सम्यक्त्व से पूर्व दशा की बात है। वह भी व्यवहाराभास ही है। श्री समयसार कलश टीका में उसे स्पष्ट मिथ्यादर्शन कहा है कुछ लोगों का ऐसा भी कहना है कि सम्यग्दर्शन से पूर्व होने वाली नौ पदार्थों की श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं किन्तु सम्यक्त्व की उत्पत्ति से पहले व्यवहार रत्नत्रय होता ही नहीं। इसकी साक्षी श्री पंचास्तिकाय सूत्र १०६ तथा १०७ की टीका में नियम कर दिया है कि दर्शनमोह के अनुदय और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पहले कोई मोक्षमार्ग नहीं। बिना निश्चय के व्यवहार किस का। अब स्तर बात यह है कि वास्तव में तो सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की निर्विकल्प शुद्ध पर्याय है जो चौथे से सिद्ध तक एक रूप है। उसमें निश्चय व्यवहार है ही नहीं। वास्तव में यह व्यवहार निश्चय की कल्पना ही मिथ्या है। सम्यक्त्व अद्वैत रूप है। इसकी चर्चा स्वयं ग्रंथकार छठी पुस्तक में करेंगे। ये अनेकान्त आगम की तीक्ष्णधारा है। गुरुगम से चलानी सीखनी पड़ती है अन्यथा रागरूप शत्रु का गला कटने की बजाय जीव स्वयं खड्डे में पड़ जाता है। विशेष सद्गुरु के परिचय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से जानकारी करें। हम जैसे तुच्छ पामर क्या आगम का पार पा सकते हैं ? सद्गुरु देव की जय। ओं शान्ति।

श्री चिद्विलास परमागम में कहा है

चौथे गुणस्थान वाला जीव श्री सर्वज्ञ कर कहे हुवे वस्तु स्वरूप को चितवन करता हैं, उसको सम्यक्त्व हो गया हैं। उस सम्यक्त्व के ६७ भेद हैं। वे कहते हैं।

प्रथम श्रद्धान के चार भेद हैं—

(१) परमार्थ संस्तव—सात तत्त्व हैं। उनका स्वरूप ज्ञाता चिन्तवन करता है। चेतना लक्षण, दर्शनज्ञानरूप उपयोग-अनादि अनन्त शक्ति सहित अनन्त गुणों से शोभित मेरा स्वरूप है। अनादि से पर-संयोग के साथ मिल्या है तो भी (हमारा) ज्ञान उपयोग हमारे स्वरूप में ज्ञेयाकार होता है; पर ज्ञेयरूप नहीं होता है (हमारी) ज्ञान शक्ति अविकाररूप अखण्डित रहती हैं। ज्ञेयोंको अवलम्बन करती है पर निश्चय से परज्ञेयों को छूती भी नहीं है। उपयोग परको देखता हुवा भी अनदेखता हैं, पराचरण करता हुवा भी अकर्त्ता है—ऐसे उपयोग के प्रतीति भाव को श्रद्धता है। अजीवादिक पदार्थों को हेय जानकर श्रद्धान करता है। बारम्बार भेदज्ञान द्वारा स्वरूप चिन्तवन करके स्वरूप की श्रद्धा हुवी, उसका नाम परमार्थ संस्तब कहा जाता है।

(२) मुनित परमार्थ—जिनागम-द्रव्यश्रुत द्वारा अर्थ को जान कर ज्ञान ज्योति का अनुभव हुवा, उसको मुनित परमार्थ कहते हैं।

(३) यतिजन सेवा—वीतराग स्वसंवेदन द्वारा शुद्ध स्वरूप का रसास्वाद हुवा, उसमें प्रीति-भक्ति-सेवा, उसको यतिजन सेवा कहा जाता है।

(४) कुदृष्टिपरित्याग—परालम्बी बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि जनों के त्याग को कुदृष्टि परित्याग कहा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्व के तीन चिन्ह कहते हैं—

(५) १. जिनागमशुश्रूषा—अनादि की मिथ्यादृष्टि को छोड़ कर, जिनागम में कहे हुवे ज्ञानमय स्वरूप को पाया जाता है। उसमें उपकारी जिनागम है। उस जिनागम के प्रति प्रीति करें। ऐसी प्रीति करे कि जैसे दरिद्री को किसी ने चिन्तामणि दिखाया, तब उससे चिन्तामणि पाया। उस समय जैसे वह दरिद्री उस दिखाने वाले से प्रीति करता है, वैसी प्रतीति श्रीजिनसूत्र से (सम्यग्दृष्टि) करे, उसको जिनागम शुश्रूषा कहा जाता है।

(६) २. धर्मसाधन में परमअनुराग—जिनधर्म रूप अनन्त गुण का विचार वह धर्मसाधन है। उसमें परमअनुराग करे; धर्म साधन में अनुराग दूसरा चिन्ह है।

(७) ३. जिनगुरु वैयावृत्य—जिस गुरु द्वारा ज्ञान-आनन्द पाया जाता है, इसलिये उनकी वैयावृत्य—सेवा—स्थिरता करे; वह जिनगुरुवैयावृत्य तीसरा चिन्ह कहा जाता है। ये तीनों चिन्ह अनुभवी के हैं।

अब दस विनय के भेद कहते हैं:—

(८ से १७) १. अरहंत, २. सिद्ध, ३. आचार्य, ४. उपाध्याय, ५. साधु ६.प्रतिमा, ७.श्रुत, ८.धर्म, ९.चार प्रकार का संघ, और १०. सम्यक्त्व; इन दस को विनय करे; उन द्वारा स्वरूप की भावना उत्पन्न होती है।

अब तीन शुद्धि कहते हैं:—

(१८ से २०)—मन–वचन–काय शुद्ध करके स्वरूप भावे, और स्वरूप अनुभवी पुरुषों में इन तीनों को लगावे; स्वरूप को निःशंक निःसंदेहपने ग्रहे।

अब पांच दोषों का त्याग कहते हैं (अतीचार)।

(२१) १. सर्वज्ञ वचन को निःसंदेहपणे माने।

(२२) २. मिथ्यामत की अभिलाषा न करे; पर—द्वैत को न इच्छे।

(२३) ३. पवित्र स्वरूप को ग्रहे, पर ऊपर ग्लानि न करे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२४) ४. मिथ्यात्वी परग्राही द्वैत की मन द्वारा प्रशंसा न करे। उसी प्रकार

(२५) ५. वचन द्वारा (उस मिथ्यात्वी के) गुण न कहे।

अब सम्यक्त्व की प्रभावना के आठ भेद कहते हैं:—

(२६) १. पवयणी—(अर्थात् सिद्धान्त का जानकार) सिद्धान्त में स्वरूप को उपादेय कहे।

(२७) २. धर्मकथा—जिनधर्म का कथन कहे।

(२८) ३. वादी—हट द्वारा द्वैत का आग्रह होय तो छुड़ावे और मिथ्यावाद मिटावे।

(२९) ४. निमित्त—स्वरूप पाने में निमित्त जिनवाणी, गुरु तथा स्वधर्मी है और निजविचार है; निमित्त रूप से जो धर्मज्ञ है उस का हित कहे।

(३०) ५. तपस्वी—परद्वैत की इच्छा मिटाकर निज प्रताप प्रगट करे।

(३१) ६. विद्यावान्—विद्या द्वारा जिनमत का प्रभाव कहे, ज्ञान द्वारा स्वरूप का प्रभाव करे।

(३२) ७. सिद्ध—स्वरूपानन्दी का वचनद्वारा हित करे, संघ की स्थिरता करे, जिस द्वारा स्वरूप की प्राप्ति होती है उसको सिद्ध कहते हैं।

(३३) ८. कवि—कवि स्वरूप सम्बन्धी रचना रचे, परमार्थ को पावे, प्रभावना करे। इस आठ भेदों द्वारा जिनधर्म का—स्वरूप का—प्रभाव बढ़े, ऐसा करे. ये अनुभवी के लक्षण हैं।

अब छह भावना कहते है:—(खास)

(३४) १. मूलभावना—सम्यक्त्व—स्वरूप—अनुभव वह सकल निज-धर्ममूल—शिवमूल है। जिनधर्मरूपी कल्पतरु का मूल सम्यक्त्व है ऐसा भावे (दंसणमूलो धम्मो)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३५) २. द्वारभावना—धर्म नगर में प्रवेश करने के लिये सम्यक्त्व द्वार है।

(३६) ३. प्रतिष्ठाभावना—व्रत—तप की, स्वरूप की प्रतिष्ठा सम्यक्त्व से है।

(३७) ४. निधानभावना—अनन्तसुख देने का निधान सम्यक्त्व है।

(३८) ५. आधारभावना—निज गुणों का आधार सम्यक्त्व है।

(३९) ६. भाजनभावना—सब गुणों का भाजन सम्यक्त्व है। ये छह भावनायें स्वरूप रस प्रगट करती हैं।

अब सम्यक्त्व के पांच भूषण लिखते हैं:—

(४०) १. कौशल्यता—परमात्मभक्ति, परपरिणाम और पापपरित्याग (रूप) स्वरूप, भावसंवर और शुद्धभावपोषक क्रिया को कौशल्यता कहते हैं।

(४१) २ तीर्थसेवा—अनुभवी वीतराग सत्पुरुषों के संग को तीर्थ सेवा कहते हैं।

(४२) ३. भक्ति—जिनसाधु और स्वधर्मी की आदरता द्वारा उस की महिमा बधाना—उसको भक्ति कहते हैं।

(४३) ४. स्थिरता—सम्यक्त्व भाव की दृढ़ता वह स्थिरता है।

(४४) ५. प्रभावना—पूजा—प्रभाव करना वह प्रभावना है। ये भूषण, सम्यक्त्व के हैं।

सम्यक्त्व के पांच लक्षण हैं। वे क्या २ हैं उनको कहते हैं:—

(४५) १. उपशम—राग द्वेष को मिटा कर स्वरूप की भेंट करना वह उपशम है।

(४६) २ संवेग—निजधर्म तथा जिनधर्म के प्रति राग—वह संवेग है।

(४७) ३. निर्वेद—वैराग्य भाव वह निर्वेद है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४८) ४. अनुकम्पा—स्वदया—परदया वह अनुकम्पा है।

(४९) ५. आस्तिक्य—स्वरूप की तथा जिनवचनों की प्रतीति वह आस्तिक्य है, ये लक्षण अनुभवी के हैं।

अब छह जैनसार लिखते हैं:—

(५०) १, वंदना—परतीर्थ, परदेव और परचैत्य—उनकी वन्दना न करे।

(५१) २, नमस्कार—उनकी पूजा या नमस्कार न करे।

(५२) ३, दान—उन को दान न करे।

(५३) ४, अनुप्रयाण-(उनके लिये) अपने खान पान से अधिक न करे।

(५४) ५, आलाप—प्रणति सहित संभाषण, उसको आलाप कहते हैं, वह उनके साथ न करे।

(५५) ६, संलाप—गुण—दोष सम्बन्धी पूंछना कि बारंबार भक्ति करना संलाप है वह उनकी न करे।

अब सम्यक्त्व के छः अभंग कारण लिखते हैं। जो सम्यक्त्व के भंग के कारण पाकर न डिगे उनको अभंग कारण कहते हैं। उनके छः भेद हैं।

(५६ से ६१)—१. राजा, २. जनसमुदाय, ३. बलवान, ४. देव, ५. पितादिक वड़े जन और ६. माता। ये सम्यक्त्व के अभंगपने में छः भय हैं। उन को जानता रहे पर उन के भय से निजधर्म तथा जिनधर्म को न तजे।

अब सम्यक्त्व के छः स्थान लिखते हैं:—

(६२) १. जीव है—आत्मा अनुभव सिद्ध है। चेतना में चित्त लीन करे; जीव अस्ति रूप है वह केवल ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष है।

(६३) २. नित्य है—द्रव्यार्थिक नय से नित्य है।

(६४) ३. कर्ता है—आत्मा पुण्य पाप का कर्ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६५) ४. भोक्ता है—आत्मा पुण्य पाप का भोक्ता भी है। यह पुण्य पाप का कर्ता भोक्तापना मिथ्यादृष्टि में है। निश्चय नय से आत्मा उन का कर्ता कि भोक्ता नहीं है।

(६६) ५. अस्ति ध्रुव (मोक्ष) है—निर्वाण स्वरूप अस्ति ध्रुव है। व्यक्त निर्वाण—वह अक्षय मुक्ति है और

(६७) ६. मोक्ष का उपाय है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्ष का उपाय है (इन छः स्थानों पर ही श्रीमद्राजचन्द्र जी ने श्री आत्मसिद्धि शास्त्र लिखा है जो प्रमाणिक है और मुमुक्षुओं के बांचने योग्य है। उसमें इन छः स्थानों को ही खूब स्पष्टता से समझाया है)।

सम्यक्त्व के ये ६७ भेद परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है।

हमारा नोट—सम्यक्त्व तो एक ही प्रकार का होता है। उसमें भेद नहीं होते। उससे अविनाभावी उस सम्यग्दृष्टि आत्मा के ज्ञान चारित्र आदि में क्या २ विशेषतायें आ जाती हैं उनका यह कथन है। चिद्विलास के अतिरिक्त और किसी शास्त्र में हमारे देखने में नहीं आया है. ममुक्षुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी समझकर यहां दे दिया है।

कण्ठस्थ करने योग्य प्रश्नोत्तर

प्रश्न २३०—सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ?

उत्तर—आत्मा के सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण की स्वभावपर्याय को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह शुद्ध भाव रूप है। राग रूप नहीं है। आत्मा की एक शुद्धि विशेष का नाम है। तत्त्वार्थश्रद्धान या आत्मश्रद्धान उसका लक्षण है। ये चौथे से सिद्ध तक सब जीवों में एक जैसा पाया जाता है।

प्रश्न २३१—मिथ्यादर्शन किस को कहते है ?

उत्तर—आत्मा के सम्यक्त्व (श्रद्धा) गुण की विभाव पर्याय को मिथ्यादर्शन कहते हैं। यह मोह रूप है। आत्मा में कलुषता है। स्वपर का एकत्व इसका लक्षण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न २३२—सम्यक्त्व का लक्षण स्वात्मानुभूति क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि का मति श्रुत ज्ञान जिस समय सम्पूर्ण परज्ञेयों से हट कर मात्र आत्मानुभव करने लगता है उसको स्वात्मानुभूति कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन की सहचरता के कारण और बुद्धिपूर्वक राग के अभाव के कारण इसी को निश्चयसम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

प्रश्न २३३—सम्यक्त्व का लक्षण श्रद्धा रुचि, प्रतीति क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि का मति श्रुत ज्ञान जब विकल्प रूप से नौ तत्त्वों की जानकारी तथा श्रद्धा में प्रवृत्त होता है उस विकल्प को या विकल्पात्मक ज्ञान को सम्यक्त्व का सहचर होने से व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है।

प्रश्न २३४—सम्यक्त्व का लक्षण चरण, प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा आस्तिक्य, भक्ति, वात्सल्यता, निन्दा, गर्हा क्या है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व से अविनाभावी अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हो जाता है और उसके अभाव से उसके चारित्र में शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। उस शुभ विकल्प रूप मन की प्रवृत्ति को जो चारित्र गुण की विभाव पर्याय है चरण है आरोप से उसे सम्यक्त्व कह देते हैं। तथा उसी समय कषायों में मन्दता आ जाती है उसको प्रशम कह देते हैं। पंचपरमेष्ठी, धर्मात्माओं, रत्नत्रयरूप धर्म तथा धर्म के अंगों में जो प्रीति हो जाती है उसको संवेग, भक्ति वात्सल्यता कहते हैं तथा भोगों की इच्छा न होने को निर्वेद कहते हैं, स्वपर की दया को अनुकम्पा कहते हैं। नौ पदार्थों में "है" पने के भाव को आस्तिक्य कहते हैं। अपने में राग भाव के रहने तथा उस से होने वाले बन्ध के पश्चाताप को निन्दा कहते हैं तथा उस राग के त्याग के भाव को गर्हा कहते हैं। ये सब अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव होने से चारित्र गुण में विकल्प प्रगट होते हैं। उनको आरोप से सम्यक्त्व या व्यवहार सम्यक्त्व भी कह देते हैं क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्व की सहचरता है।

प्रश्न २३५—निःशंकित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—शंका नाम संशय तथा भय का है। इस लोक में धर्म-अधर्म-द्रव्य, पुद्गल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ तथा तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, राम, रावणादि अन्तरित पदार्थ हैं इनका वर्णन जैसा सर्वज्ञवीतराग भाषित आगम में कहा गया है सो सत्य है या नहीं ? अथवा सर्वज्ञ देव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक (अनन्तधर्म सहित) कहा है सो सत्य है कि असत्य ? ऐसी शंका उत्पन्न न होना सो निश्शंकितपना है।

परपदार्थों में आत्मबुद्धि का उत्पन्न होना पर्यायबुद्धि है अर्थात् कर्मोदय से मिली हुवी शरीरादि सामग्री को ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है। इस अन्यथा बुद्धि से ही सात प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं यथा—इहलोकभय[१], परलोकभय[२], वेदनाभय[३], अरक्षाभय[४], अगुप्तिभय[५], मरणभय[६], अकस्मात्भय[७]। यहां पर कोई शंका करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियों के भी होता है क्योंकि भय प्रकृति का उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भय का अभाव सम्यग्दृष्टि के कैसे हो सकता है ? उसका समाधान-सम्यग्दृष्टि के कर्म के उदय का स्वामीपना नहीं है और न वह पर द्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्वभाव का नाश मानता है, पर्याय का स्वभाव विनाशीक जानता है। इसलिये चारित्रमोह सम्बन्धी भय होते हुये भी दर्शन मोह सम्बन्धी भय का तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान में शंका का अभाव होने से वह निःशंक और निर्भय ही है। यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहने में अशक्त होने के कारण भय से भागना आदि इलाज भी करता है तथापि तत्त्वार्थ श्रद्धान से चिगने रूप दर्शनमोह सम्बन्धी भय का लेश भी उसे उत्पन्न नहीं होता। अपने आत्मज्ञान श्रद्धान में निश्शंक रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्न २३६—निःकांक्षित अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—विषय-भोगों की अभिलाषा का नाम कांक्षा या वांछा है। इसके चिन्ह ये हैं—पहिले भोगे हुये भोगों की वांछा, उन भोगों की मुख्य क्रिया की वांछा, कर्म और कर्म के फल की वांछा, मिथ्या-दृष्टियों को भोगों की प्राप्ति देखकर उनको अपने मन में भले जानना अथवा इन्द्रियों की रुचि के विरुद्ध भोगों में उद्वेगरूप होना ये सब संसारिक वांछाएं हैं जिस पुरुष के ये न हों सो निकांक्षित अङ्ग युक्त है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि रोग के उपायवत् पंचेन्द्रियों के विषय सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है । ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुवा भी उनके उदयजनित शुभ फलों की वांछा नहीं करता, यहां तक व्रतादि शुभाचरणों को अशुभ से बचने के लिये आचरण करते हुवे भी उन्हें हेय जानता है।

प्रश्न २३७—निर्विचिकित्सा अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—अपने को उत्तम गुणयुक्त समझकर अपने ताईं श्रेष्ठ मानने से दूसरे के प्रति जो तिरस्कार करने की बुद्धि उत्पन्न होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं। इस दोष के चिन्ह ये हैं—जो कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो या असाता के उदय से ग्लान—शरीरयुक्त हो, उसमें ऐसी ग्लानिरूप बुद्धि करना कि—"मैं सुन्दर रू वान्, संपत्तिवान्, बुद्धिमान् हूं, यह रंक—दीन, कुरूप मेरी बराबरी का नहीं" सम्यग्दृष्टि के ऐसे भाव कदापि नहीं होते बह विचार करता है कि जीवों की शुभाशुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार विचित्र दशा होती है। कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आजाय तो मेरी भी ऐसी दुर्दशा होना कोई असम्भव नहीं है। इसलिये वह दूसरों को हीन बुद्धि से या ग्लान-दृष्टि से नहीं देखता ।

प्रश्न २३८—अमूढ़दृष्टि अंग किसे कहते हैं ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर—अतत्त्व में तत्त्व के श्रद्धान करने की बुद्धि को मूढ़दृष्टि कहते हैं। जिनके यह मूढ़दृष्टि नहीं है वे अमूढ़दृष्टि अंग युक्त सम्यग्दृष्टि है। इसके बाह्य चिन्ह यह हैं—मिथ्यादृष्टियों ने पूर्वापर विवेक बिना, गुण दोष के विचार रहित, अनेक पदार्थों को धर्मरूप वर्णन किये हैं और उनके पूजने से लौकिक और पारमार्थिक कार्यों की सिद्धि बतलाई है। अमूढ़दृष्टि का धारक इन सब को असत्य जानता और उनमें धर्मरूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकार की लौकिक मूढ़ताओं को निस्सार तथा खोटे फलों की उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है, कुदेव या अदेव में देवबुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि तथा इनके निमित्त हिंसा करने में धर्म मानना ,आदि मूढदृष्टिपने को मिथ्यात्व समझ दूर ही से तजता है, यही सम्यक्त्वी का अमूढ-दृष्टिपना है। सच्चेदेव, गुरु, धर्म को ही स्वरूप पहचान कर मानता है।

प्रश्न २३९—उपवृंहण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—अपनी तथा अन्य जीवों की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शक्ति का बढ़ाना, उपवृंहण अंग है। इसको उपगूहन अंग भी कहते हैं। पवित्र जिनधर्म में अज्ञानता अथवा अशक्यता से उत्पन्न हुई निन्दा को योग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुणोंको वा दूसरे के दोषों को ढांकना सो उपगूहन अंग है।

प्रश्न २४०—स्थितिकरण अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—आप स्वयं या अन्य पुरुष किसी कषायवश ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र से डिगते या छूटते हों तो अपने को वा उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना से स्थितिकरण अंग है।

प्रश्न २४१—वात्सल्य अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—अरहन्त, सिद्ध, उन के बिम्ब, चैत्यालय, चतुर्विध संघ तथा शास्त्रों में अन्तःकरण से अनुराग करना, भक्ति सेवा करना सो वात्सल्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह वात्सल्य वैसा ही होना चाहिये जैसे स्वामी में सेवक की अनुराग पूर्वक भक्ति होती है या गाय का बछड़े में उत्कट अनुराग होता है। यदि इनपर किसी प्रकार के उपसर्ग या संकट आदि आवें तो अपनी शक्ति भर मेटने का यत्न करना चाहिये, शक्ति नहीं छिपाना चाहिये।

प्रश्न २४२—प्रभावना अंग किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस तरह से बन सके, उस तरह से अज्ञान अन्धकार को दूर करके जिन शासन के माहात्म्य को प्रगट करना प्रभावना है अथवा अपने आत्मगुणों को उद्योत करना अर्थात् रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा का प्रभाव बढ़ाना और पवित्र मोक्षदायक जिनधर्म को दान-तप-विद्या आदि का अतिशय प्रगट करके तन, मन, धन द्वारा (जैसी अपनी योग्यता हो) सर्व लोक में प्रकाशित करना सो प्रभावना है।

सम्यग्दर्शन से लाभ

(१) सम्यग्दर्शन से—आगामी कर्मों का आस्रव बन्ध रुक जाता है।

(२) सम्यग्दर्शन से—पहले बन्धे हुवे कर्मों की निर्जरा होती है।

(३) सम्यग्दर्शन से—ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हो जाता है और चारित्र सम्यक्-चारित्र हो जाता है।

(४) सम्यग्दर्शन से—एकत्वबुद्धि की कलुषता आत्मा से दूर हो जाती है और शुद्धि की प्रगटता हो जाती है।

(५) सम्यग्दर्शन से—दुःख दूर होकर अतीन्द्रिय सुख प्रारम्भ हो जाता है।

(६) सम्यग्दर्शन से—लब्धिरूप स्वात्मानुभूति तो हर समय रहती है और कभी २ उपयोगात्मक स्वात्मानुभूति का भी आनन्द मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) सम्यग्दर्शन से—अनादिकालीन पर के कर्तृत्व, भोक्तृत्व का भाव समाप्त हो जाता है। पर के संग्रह की तृष्णा मिट जाती है। परिग्रहरूपी पिशाच से मुख मुड़ जाता है। उपयोग का बहाव पर से हट कर स्व की ओर होने लगता है।

(८) सम्यग्दर्शन से—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के स्वामित्व का नाश होकर मात्र ज्ञान चेतना का स्वामी हो जाता है। ज्ञानमार्गानुचारी हो जाता है।

(९) सम्यग्दर्शन से—परद्रव्यों का, अपने संयोग वियोग का, राग का, इन्द्रिय सुख दुःख का, कर्मबन्ध का, नौ तत्त्वों का, यहां तक कि मोक्ष का भी ज्ञाता द्रष्टा बन जाता है। केवल सामान्य आत्मा में स्वपने की बुद्धि रह जाती है।

(१०) सम्यग्दर्शन से—इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख में हेय बुद्धि होजाती है। अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख की रुचि जागृत हो जाती है।

(११) सम्यग्दर्शन से—आत्मप्रत्यक्ष हो जाता है।

(१२) सम्यग्दर्शन से—सातावेदनीय से प्राप्त सुख सामग्री में उपादेय बुद्धि नष्ट हो जाती है।

(१३) सम्यग्दर्शन से—विषयसुख में और पर में अत्यन्त अरुचि भाव हो जाता है।

(१४) सम्यग्दर्शन से—केवल ज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं। अज्ञानमय भावों की उत्पत्ति का नाश हो जाता है।

(१५) सम्यग्दर्शन से—ही धर्म प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन पहला धर्म है और चारित्र दूसरा धर्म है। जगत में और धर्म कुछ नहीं है।

(१६) सम्यग्दर्शन से—कर्मों का अनादिकालीन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध छूट जाता है।

(१७) सम्यग्दर्शन से—अनादि पंचपरावर्तन की श्रृङ्खला टूट जाती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१८) सम्यग्दर्शन से—नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति नहीं बन्धती। केवल देवगती में ही सहचर रागवश जाता है। यदि पहले बंधी हो तो नरक में प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े से आगे नहीं जाता। तिर्यंच या मनुष्य, उत्तम भोगभूमि का होता है।

(१९) सम्यग्दर्शन से—नियम से उसी भव में या थोड़े से भवों में नियम से मोक्ष होकर सब दुःखों से छुटकारा सदा के लिये हो जाता है।

ऐसे महान् पवित्र सम्यग्दर्शन को कोटिशः नमस्कार हैं

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य

श्री रत्नकरंडश्रावकाचार जी में कहा है

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

अर्थ—यदि (सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से) पाप का निरोध है अर्थात् आगामी कर्मों का संवर है तो हे जीव ! अन्य सम्पदा से तुझे क्या प्रयोजन है ? कुछ नहीं। और यदि सम्यग्दर्शन के अभाव में पाप का आस्रव है अर्थात् कर्मों का आगमन है तो भी हे जीव ! तुझे अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है ?

भावार्थ—जीव को सब से अधिक सम्पदाओं की अभिलाषा है तो गुरुदेव समझाते हैं कि हे जीव ! यदि सम्यग्दर्शन रूपी महान् सम्पदा प्राप्त हो गई तो अन्य सम्पदायें तेरे किस काम की। इस सम्पदा से तुझे आस्रव का निरोध होगा और उसके फल स्वरूप महान् अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष मिलेगा। अन्य सम्पदा तो नाशवान् है। वह तेरे कुछ काम नहीं आती। भाई, उनको आत्मा छूता भी नहीं। नीचे की पंक्ति में नास्ति से समझाते हैं कि यदि सम्यक्त्व रूप सच्ची सम्पदा नहीं है और शेष जगत् की सब सम्पदायें हैं। महान् अहमिन्द्र पद तक प्राप्त है तो रहो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे जीव ! मिथ्यादर्शन रूपी महान् शत्रु से तुझे कर्म बन्धता रहेगा और उस के फल स्वरूप नरक निगोद में चला जायेगा। यह सब सम्पदा यहीं पड़ी रह जायेगी। इसलिये भाई, इन सम्पदाओं की अभिलाषा छोड़। ये तो जीव को अनेक बार मिली। असली सम्यक्त्व रूपी सम्पदा का प्रयत्न कर, जिस के सामने ये सब हेच हैं।

सम्यग्दर्शन से ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं और उनका गमन भी मोक्षमार्ग की ओर चल देता है अन्यथा ग्यारह अंग तक ज्ञान और महाव्रत तक चारित्र व्यर्थ है। केवल बन्ध करने वाला है। (देखिये इसी ग्रन्थ का नं० १५३७)। इसलिये संसार सागर से तरने के लिये सम्यग्दर्शन खेवट के समान कहा है।

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥३१॥

विद्यावृत्तस्य सभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

भावार्थ—ज्ञान चारित्र से पहले सम्यग्दर्शन की ही साधना की जाती है क्योंकि वह मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा गया है। ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति स्थिति वृद्धि और अतीन्द्रिय सुख रूपी फल सम्यक्त्व के अभाव में नहीं होते जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फल लगना नहीं होता। दंसण मूलो धम्मो। यहां सम्यग्दर्शन को बीजवत् कहा है और चारित्र को वृक्षवत् कहा है और अतीन्द्रिय सुख रूप मोक्ष उसका फल कहा है। अतः पहले सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करना ही सर्व श्रेष्ठ है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृहीं श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ—सम्यग्दृष्टि गृहस्थी मोक्ष की ओर जा रहा है किन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि संसार (निगोद) की ओर जा रहा है। अतःउस मिथ्यादृष्टि मुनि से वह सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ है। इससे सम्यक्त्व का माहात्म्य प्रगट ही है।

(४) प्रथम नरक विन षट्भू ज्योतिष, वान भवन षंढ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नाहिं, उपजत समकितधारी॥
तीनलोक तिहुं कालमाहिं, नहिं दर्शन सम-सुखकारी।
सकलधरम को मूल यही, इस बिन करनी दुःखकारी॥
मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा॥

अर्थ—केवल एक सम्यग्दर्शन से कितना संसार कट जाता है। गिने मिने भवों में मोक्ष हो जाता है और तब तक नरक तिर्यञ्च नहीं होता। केवल देव और वहां से कुलीन सम्पत्तशाली मनुष्य होता है। यदि श्रेणिक की तरह मिथ्यात्व अवस्था में सातवें नरक तक की भी आयु बांधली हो तो कटकर अधिक से अधिक पहले नरक की प्रथम पाथड़े की ८४ हजार वर्ष रह जाती है। यदि पशुगति या मनुष्यगति बांधली हो तो उत्तम भोगभूमि की हो जाती है और मोक्षमार्ग तो उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है। वह वहां भी कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष का ही पुरुषार्थ करता है।

श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है

रयणाण महारयणं सव्वजोयाण उत्तमं जोयं।
सिद्धीण महारिद्धी सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥३२५॥

अर्थ—सम्यक्त्व है सो रत्ननि विषय तो महारत्न है। बहुरि सर्वयोग कहिये वस्तु की सिद्धि करने के उपाय मंत्रध्यान आदिकतिनि में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तम योग है जातें सम्यक्त्व से मोक्ष सधै है। बहुरि अणिमादिक ऋद्धि हैं तिनि में बड़ी ऋद्धि है। बहुत कहा कहिये सर्व सिद्धि करने वाला यह सम्यक्त्व ही है। इसमें यह दिखाया है कि सम्यक्त्व से कोई बड़ी सम्पदा जगत् में नहीं है।

नोट—सम्यग्दर्शन का विशेष माहात्म्य जानने के लिये सोनगढ से प्रकाशित सम्यग्दर्शन नाम की पुस्तक का अभ्यास करें। सम्यग्दर्शन का माहात्म्य शब्द अगोचर है। यह सब निश्चय सम्यग्दर्शन की महिमा है। व्यवहार रूप राग की नहीं। वह तो बंध करने वाला है।

पुन: नोट—सद्गुरुदेव की कृपा से सम्यग्दर्शन का कुछ निरूपण इस सम्पूर्ण टीका में किया है। उस परमपूज्य सम्यग्दर्शन का माहात्म्य गुरुदेव की वाणी में तो निरन्तर अमृतधारावत् खिरता ही रहता है। मुझ जैसा तुच्छ और पामर प्राणी क्या उसकी महिमा का वर्णन करेगा? हजार जिह्वा वाला इन्द्र भी उसका वर्णन नहीं कर सकता। अतः आप को भी उस महारत्न की प्राप्ति हो इस आशीर्वाद के साथ ग्रन्थ समाप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन की जय हो! जय हो!! जय हो!!!

हमारी गुरु परम्परा

१–सद्गुरुदेव श्रीकुन्दकुन्दाचार्य।

२–सद्गुरुदेव श्रीअमृतचन्द्र आचार्य।

३–साक्षात् गमकगुरु सद्गुरुदेव श्री कानप्रभु।

मुमुक्षु—सरना राम जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीर प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi